पाँच कहानियाँ

पाँच कहानियाँ

सुमित्रा नन्दन पन्त

विज्ञप्ति

कवि के रूप में श्री सुमित्रानन्दन पंत जी से हिन्दी-ससार भली भांति परिचित है। दो वर्ष के लगभग हुए कवि ने 'ज्योत्स्ना' नाम का एक नाटक भी हिन्दी-प्रेमियों को भेंट किया था। प्रस्तुत पुस्तक उन्हीं कवि की पाँच कहानियों का संग्रह है। इस प्रकार पंत जी की बहुमुखी प्रतिभा का पाठकों को परिचय मिलेगा। इस पुस्तक के पढ़ने वाले देखेंगे कि कवि के साहित्यिक उद्गार का माध्यम ही नहीं बदला है, वरन् जीवन के प्रति उनके दृष्टिकोण में भी परिवर्तन हुआ है। हमें पूरा विश्वास है कि पंत जो की इस नई कृति का हिन्दी-जगत यथेष्ठ आदर करेगा।

—प्रकाशक

सूची

पानवाला

यह पानवाला और कोई नहीं, हमारा चिर-परिचित पीताम्बर है। बचपन से उसे वैसा ही देखते आए हैं। हम छोटे लड़के थे—स्थानीय हाईस्कूल में चौथे-पाँचवें क्लास में पढ़ते थे। मकान की गली पार करने पर सड़क पर पहुँचते ही जो सब से पहली दूकान मिलती, वह पीताम्बर की। हम कई लड़के रहते, मास्टरों से लुकछिप कर वहाँ पान का बीड़ा खाते, कुछ दूकान के अन्दर आल्मारी की आड़ में खड़े-खड़े सिगरेट-बीड़ी की भी दो चार कस लेते, पर मुख्य आकर्षण की सामग्री पीताम्बर की दूकान में आलू और मिठाइयाँ रहतीं। कभी-कभी वह स्कूल से लौटने तक हम लोगों के लिए औटाये हुए दूध में केले मिलाकर रखता, कभी रबड़ी बना देता। स्कूल से लौटने पर थकामाँदा, भूख से व्याकुल हम लोगों का दल टिड्डियों की तरह पीताम्बर की दूकान पर टूट पड़ता, कोई मिठाई और रायता खाता, कोई कचालू, मटर, दूधकेला, रबड़ी इत्यादि। पान खाना, बीड़ी सिगरेट फूँक लेना भी किसी-किसी के लिए आवश्यक हो जाता था। घर में हमारी उम्र के लड़कों को ये नियामतें कहाँ नसीब हो सकतीं? पीताम्बर हमें हँसाता, बहलाता, खुद हँसता, परिहास करता और थोड़ी बहुत छेड़खानी करने एवं ताना मारने में भी न चूकता। हममें से सभी को घर से पैसे तो मिलते न थे, हम उधार खाते और पीताम्बर

को भी खिलाते। वह हम लोगों का दोस्त था, वह सभी का दोस्त था ;—छोटे, बड़े, बच्चे, बूढ़े सभी से वह परिहास करता, उनपर मीठी फबतियाँ कसता और सब को खुश रखता।

पीताम्बर तब किस उम्र का था, अब किस उम्र का है, यह बात हम तब भी नहीं जानते थे, अब भी नहीं जानते। उससे पूछने का कसी को साहस भी हो ? वह तो सब को हँसी में उड़ा देता है। ऐसी खरी-खोटी सुनाता, ऐसे ताने और व्यंग-बाण मारता है कि अपने व्यक्तित्व को, निजी याद को, पास ही नहीं फटकने देता। लोग हँस कर, धिधियाकर, खिसियाकर, कुढ़कर चुप हो जाते हैं। दूसरे ही क्षण वह उन्हें फिर खुश कर लेता है। वह कैसा ही आत्माभिमानी हो परन्तु यह कभी नहीं भूलता कि उन्हीं लोगों से उसकी गुजर चलती है, लेकिन पीताम्बर को हो क्या गया ?—

तब से बीस साल बीत गए, हममें से बहुतों की शादियाँ और बाल-बच्चे भी हो गए, भिन्न लोग कालेज की डिग्रियाँ लेकर बड़े-बड़े ओहदों पर पहुँच गए, भारी-भारी वेतन पाने लगे; कइयों ने कोठियाँ खड़ी कर दीं, मोटर गाड़ियाँ ख़रीद लीं,—पर पीताम्बर ! पीताम्बर वैसा हो रह गया है। तब कौन जानता था कि हमारे ही लिए विधाता ने भविष्य बनाया है, पीताम्बर के वास्ते भविष्य सी किसी वस्तु का आविष्कार नहीं हुआ है, अथवा वह भूत, भविष्य और वर्तमान से अतीत है। सावन सूखा न भादों हरा। अर्थ-शास्त्र के नियमों के लिए तो उसकी दूकान अपवाद थी ही, पर

क्या प्रकृति के नियमों ने भी उसके लिए बदलना छोड़ दिया है ? किसी तरह का भी तो बदलाव उसमें इन बीस सालों में नहीं आया—लेशमात्र नहीं, चिह्न तक नहीं। वही आकृति, वही प्रकृति, वही क़द, वही आदतें, और वही दूकान !—किसी में भी उन्नति-अवनति के कोई लक्षण नहीं। अब वह आलू और मिठाई नहीं रखता तो इसलिए कि मुहल्ले में अब वैसे चटोर, खाने के शौक़ीन लड़के ही नहीं रह गए। लेकिन पान, सुपारी, सिगरेट, बीड़ी—अब भी उसी प्रकार, उन्हीं जगहों पर दूकान में रक्खे हैं। चूने-कत्थे के बर्तन भी वही पुराने पहचाने हुए हैं। चूने की लकड़ी घिस कट कर पतली पड़ गई है, कत्थे की पपड़ी जम जाने से और भी मोटी हो गई है। दूकान के बीचो-बीच वही पुराना लैम्प टँगा है जो उसके किसी मित्र की इनायत है, चिमनी के ऊपर का भाग टीन की पत्ती का बना हुआ है। सामने एक मझोले आकार का शीशा लगा है, जिसके पारे में धब्बे और चकत्तियाँ पड़ जाने के कारण काँच के पीछे से बीच में द्रोपदी का तिरछा रङ्गीन चित्र चिपका दिया गया है। अन्दर के कमरे में मूँज की एक चारपाई और बिस्तरा, खूँटी पर टँगा कोट, सिगरेट दियासलाई के ख़ाली डिब्बे, एक लोहे की अँगीठी और कुछ चाय का सामान रहता है, बाहर वही पुराना काठ का बेंच पड़ा है, जिसपर सुबह, शाम, दोपहर, हर वक्त दो-चार दोस्त लोग बैठे गपशप करते, एक दूसरे की खिल्ली उड़ाते और शहर भर की बुराइयों एवं ख़राबियों की चरचा करते हैं। उस

बेंच से नित्य नई अफ़वाहों का आविष्कार एवं प्रचार होता, न जाने कितनी स्त्रियों की कलंक कथायें, युवकों-रसिकों की लीलायें, भाग्यों के बनने-बिगड़ने के खेल, जन्म-मृत्यु के समाचार, गाँव, शहर; देश, एवं विश्व के इतिहास का प्रवाह आने-जाने वालों के मुखों से निसृत हो पीताम्बर के कर्ण-कुहरों में जाह्नवी की तरह समा गया उसका क्या पतां, क्या पार ? वही उसका मानसिक भोजन है, जो उसकी अस्थि, रक्त, मज्जा, मांस बन गया है।

अपने लड़कपन के मित्रों के साथ उसकी एक तस्वीर है जो दूकान में गद्दी के ऊपर लटकी रहती है। कोई भी उस चित्र के गोल, सुडौल, भरे हुए मुख को, अङ्गों को गठन, बनाव-शृङ्गार को देखकर यह नहीं विश्वास करेगा कि वह यही पीताम्बर है ! वह यह पीताम्बर है भी नहीं। वह सोलह-सत्रह साल का, यूनीफ़ार्म पहने, हाथ में हाकी की स्टिक लेकर, अकड़कर, कुर्सी पर बैठा अमीरों और रईसों का अमीरदिल मित्र इस तंग दिल कोठरी में बैठा हुआ ग़रीब पनवारी कैसे हो सकता है ? उसकी गोल चमकदार आँखों में गर्व और चालाकी भरी है; दृष्टिगरिमा बाहर को फूट रही है, इसकी आँखें धँसी हुई, लाल छड़ों से भरी, छिलका निकाल देने पर पिचकी हुई लीची की तरह गँदली, करुणा, क्षोभ, प्रतिहिंसा बरसा रही हैं। उनके कोनों में कौओं के पंजे बन गए हैं। उस सोलह साल के नवयुवक के मुखमंडल पर सुख सौकुमार्य स्वास्थ्य आशा और उत्साह की आभा है, इस अधेड़ का मुख—

जिसकी उम्र तीस से पचास साल तक कुछ भी कही जा सकती है— दुख, दारिद्र, निराशा, आत्मपीड़न, असन्तोष का भग्न जीर्ण खण्डहर है। गालों की गोल रेखाओं को संसार ने नींबू की तरह चूसकर टेढ़ा-मेढ़ा विकृत कर दिया है। दुख से काटे हुए रात-दिन के शेष चिन्हों की तरह बेमेल स्याह, सुफ़ेद, घनी, दाढ़ी-मूछों ने—जिन्हें हफ़्ते में एक बार बनाने की भी नौबत नहीं आती—उस सोलह साल के फूल को सुखाकर काँटों की झाड़ी से घेर लिया है। दुर्भाग्य के स्रोत की शीर्ण, शुष्क धाराओं की तरह, सिकुड़े हुए भाल पर गहरी चिन्ता की रेखाएँ पड़ गई हैं। नीले मुरझाए हुए ओठों के दोनों ओर नाक से मिली हुई दो लकीरों ने मनचाहा खाना न मिलने के कारण अनावश्यक मुख को दोनों ओर से दो घेरों में बन्द कर दिया है। मुख का रङ्ग धूप से जलकर काला पड़ गया है, और उसका प्रत्येक चर्म-अणु सूजी के दाने की तरह शोक-ताप में पक कर फूल गया है। रोड़े की तरह गले में अटकी हुई हड्डी माँस के सूख जाने से बाहर निकल आई है। वह चित्र भले ही हो, वास्तविक पीताम्बर यही है। दुबला, नाटा, अविकसित हड्डियों का ढाँचा यह पीताम्बर—उसकी कलाइयाँ दो अंगुल से अधिक चौड़ी नहीं, वे भी जैसे कसकर तंग चमड़े में बाँध दी गई हों। उसके इकहरे जीर्ण चमड़े के अन्दर से चरबी का अस्तर कभी का ग़ायब हो चुका है। रक्तहीन हाथों में नीली नीली फूली नाड़ियाँ और हथेलियों में चूने-कत्थे से कटी रेखाओं

की जालियाँ पड़ गई हैं। दुःख, दैन्य और दुर्भाग्य के जीवन-प्रवाह के तट पर ठूँठ की तरह खड़ा, उसके तीक्ष्ण, कटु आघातों से लड़ता हुआ पीताम्बर उस अभाव-वाचक स्थिति पर पहुँच गया है, जहाँ उस पर आशा, तृष्णा, लोभ, जीवनेच्छा, सौन्दर्य, स्पर्धा, मोह, ममता, उम्र आदि भाववाचक विभूतियों के अत्याचार-उत्पात का कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता। वर्तमान मनुष्यता, सामाजिकता, नैतिकता, धर्म, आचार, रूढ़ि-रीतियों की कला का वह एक साधारण नमूना मात्र है। अपने देश के वर्तमान जीवन ने कुशल कलाकार की तरह भिन्न, भिन्न अवस्थाओं एवं परिस्थितियों की कूचियों से उसमें रूप, रङ्ग, रेखाएँ भरकर उसे हमारी पैशाचिकता, पशुत्व, अन्धकार का निमर्म सजीव चित्र बना दिया है। उस षोड़षवर्षीय किशोर का चित्र इस चित्र से कैसे मिल सकता है? वह सब समय की मानवी प्रकृति की कला का नमूना था, यह हमारी इस समय की सभ्यता की मानवी विकृति का नमूना है।

पीताम्बर ज्ञात का तम्बोली नहीं, वह अच्छे घराने का है। छुटपन में ही माँ-बाप के मर जाने के कारण पीताम्बर अयाचित स्नेह के संरक्षण से वंचित हो गया। उसके भाई को, जो उससे पाँच साल बड़ा था, यह समझते देर नहीं लगी कि अब उसे दूसरों की चापलूसी, खुशामदकर, उनकी करुणा, दया को जाग्रतकर, उनके स्वभाव और इच्छाओं को अपनाकर, दूसरों की बुरी प्रवृत्तियों के सामने अपनी अच्छी प्रवृत्तियों का

बलिदानकर, दबकर, सहकर, कुटकर, पिसकर जीवन निर्वाह करना है। मुक्ति-श्रेयी माँ-बाप उसकी शादी कर गए थे। एक असहाय, मूक, पंगु, अपढ़, अन्ध विश्वासों से निर्मित मांस की लोथ, निष्प्राण, पतिप्राण सती का भार उस पर था। इसलिए लाचार हो वाणी में दीनता, आँखों में याचना, होठों में शरमायी हुई करुण हँसी भरकर सब के सामने आँखें झुकाना, माथा नवाना सीखकर यज्ञदत्त ने अपना स्वरूप बदल डाला। पड़ोस और शहर के लोग उसकी नम्रता, परतत्परता पर मुग्ध हो गए, उसे ज़िला बोर्ड में दफ़री का काम दिला दिया। पन्द्रह रुपए वेतन मिलता, जिसमें चार प्राणी किसी तरह जीवन व्यतीत करते। यज्ञदत्त में कोई ख़ास बात न थी वह जैसे ऐसे ही छोटे-मोटे काम के लिए बना था।

पर इसी यज्ञदत्त का भाई, उन्हीं माँ-बाप की दरिद्र कोख से पैदा हुआ पीताम्बर अपने आत्माभिमान को न छोड़ सका, वह उस निर्धन घर का अमीरदिल प्रकाश था। उसके वैसे ही संस्कार थे। सृष्टिकर्ता ने उसे निर्माण करने में किसी प्रकार का संकोच या संकीर्णता न दिखाई थी। प्रकृति ने रईसों के लड़कों को और उसे समान-रूप से अपने मुक्तदान, अपनी गुप्त शक्तियों का अधिकारी बनाया था। उसके स्वभाव में आत्मसम्मान प्रमुख, और इच्छाएँ गौण हो गई थीं। किसी के सामने झुकना, किसी के रोब में आना उससे न हो सकता था। माँ को वह खो ही चुका था,

जिसके हाथों का स्नेह-स्पर्श उसके अभिमान और हठीले स्वभाव के तीखे कोनों को कोमल, चिकना बना सकता। अभिमान केवल स्नेह के सामने झुक सकता है, उसे सहिष्णु साथी की ज़रूरत होती है। पर अपने भले-बुरे के ज्ञान से अनभिज्ञ उस ग़रीब के लड़के को ऐसा कुछ भी न मिल सकने के कारण उसका अतृप्त अभिमान आत्म-निर्माण करने के बदले आत्म-संहारक हो गया। पीताम्बर उच्छृंखल, स्वतंत्र तबियत का हो गया। आत्महीनता के पीड़ा, जनक ज्ञान से बचने के लिए वह धनी युवकों से मित्रता स्थापित कर झूठा सन्तोष ग्रहण करने लगा। जीवनोपाय के लिए कोई हुनर, कोई उद्योग सीखने की ओर उसने कभी ध्यान ही नहीं दिया, जिससे पीछे उसे सच्चा सन्तोष मिल सकता। वह बड़ा तेज़ और होशियार था। बात की बात में शहर के अमीर लड़कों को अपने वश में कर, उनकी स्नेह-सहानुभूति पर अधिकार प्राप्त कर, मौज उड़ाया करता। वह मनोरंजन के उन्हें नित्य नवीन उपाय बतलाता; जवानी की बहार लूटने को उत्साहित करता, उनमें साहस भरता और मुश्किल को आसान बनाकर अपने को उनके लिए आवश्यक बना लेता था। वह उनसे दबता न था, बराबरी का व्यवहार रखता था। उनके साथ पिकनिक में जाता, ताश खेलता, हाकी, फुटबाल, क्रिकेट में अपनी दक्षता दिखलाता, किसी के कुछ कहने पर या छेड़ने पर बिगड़ भी उठता। यदि वह वैसा उद्दण्ड, स्वतंत्र एवं आत्माभिमानी न होता, और अपने

मित्रों की ज़रा भी ख़ुशामद कर सकता, तो आज वह फटेहाल न होता !

अमीरज़ादों के साथ ऐश, आराम में रहना सीखकर शीघ्र ही वह जीवन-संग्राम की कठिनाइयों को झेलने और कठोर परि-श्रम कर सकने में अक्षम साबित हो गया। जवानी का खुमार उतरने और होश आनेपर उसने अपने को मोर के पर लगाए हुए कौए की तरह और भी दयनीय, कुरूप, एवं निकम्मा पाया। अपने भाई की ग़रीब गृहस्थी से, पास-पड़ोस से, शहर से और ख़ुद अपने से उसे घृणा होने लगी, वह और भी चिड़चिड़ा, दुरा-ग्रही, हठी, निन्दक, आत्म-घातक और परद्रोही हो गया। उसके धनी मित्रों ने भी, जिनके साथ रहकर उसे अनेक प्रकार की कुटेवें और बुरी आदतें पड़ गई थीं, उसकी ऐसी दशा देखकर उसका साथ छोड़ दिया। वह न घर का रह गया न घाट का। चाय, पान, सिगरेट के लिए, सुस्वादु भोजन के लिए अब उसका जी तरसने लगा। सिनेमा, थियेटर उसे और भी जोर से अपनी ओर खींचने लगे। लाचार हो, अपने से तंग आकर उसने अपने ग़रीब भाई की जेब पर हाथ साफ़ करना शुरू किया। भाई उससे पहले से ही रुष्ट था, अब उसका ऐसा पतन देखकर उसने उसका घर में आना बन्द कर दिया।

सब तरह से निराश हो, अपमान, भय, लज्जा, क्षोभ, यातना, आत्म-सम्मान, दारुण भूख-प्यास से एक साथ ही ग्रस्त, पीड़ित-

क्लान्त एवं पराजित हो अन्त में पीताम्बर ने एक तम्बोली की दूकान में पान लगाने की नौकरी कर ली, पर वहाँ भी वह अधिक समय तक न ठहर सका। उसकी कुटेवें उसका दुर्भाग्य बन गई थीं। और एक रोज़ दूकान पर पान खाने को आई हुई एक वेश्या के रूप-सम्मोहन के तीर से बुरी तरह घायल हो उसने शाम के वक़् चुपचाप गल्ले की सन्दूक़्ची से पाँच रुपए का नोट चुराकर अपनी विपत्ति-निशा की कालिमा को एक रात के कलंक से और भी कलुषित कर डाला। उसका स्वास्थ्य अभी ख़राब नहीं हुआ था। उसके अविविवाहित जीवन, सबल इन्द्रियों की स्वस्थ प्रेरणाओं का समाज अथवा संसार क्या मूल्य आँक सकता था, क्या सदुपयोग कर सकता था? फूल की मिलनेच्छा सुगन्ध कही जाती है मनुष्य की प्रणयेच्छा दुर्गन्ध, उसे निर्मल समीर वाहित करता है, इसे कलुषित लोकापवाद। नर-पुष्प के वीर्य का गीत गाता हुआ भौंरा, नृत्य करता हुआ मलयानिल स्त्री-पुष्प के गर्भ में पहुँचा आता है, मनुष्य का वीर्य वैवाहिक स्वेच्छाचार की अच्छी कोठरियों, पाशविक वेश्याचार की गन्दी नालियों में, सहस्र प्रकार के गर्हित, नीरस, कृत्रिम मैथुनों द्वारा छिपे-छिपे प्रवाहित होता है! यह इसलिए कि हम सभ्य हैं, मनुष्य के मूल्य को, जीवन की पवित्रता को समझ सकते हैं। असंख्य जीवों से परि-पूर्ण यह सृष्टि एक ही अमर, दिव्य शक्ति की अभिव्यक्ति है, प्रकृति के सभी कार्य पुनीत हैं, मनुष्य-मात्र की एक ही आत्मा है—

हम ऐसे-ऐसे दार्शनिक सत्यों के ज्ञाता एवं विधाता हैं, हम प्रकाशवादी हैं !

ख़ैर, दूकान का मालिक पीताम्बर को पुलिस के हवाले करने जा रहा था, उसके बड़े भाई ने बीच-बचाव कर, हाथ जोड़कर, गिड़गिड़ाकर तम्बोली के रुपए भर दिए और पीताम्बर को धिक्कारकर, उस पर गालियों की बौछारकर, अन्त में लोगों के समझाने पर तरस खाकर उसके लिए निजी पान की दूकान खोल दी। तभी से हमारे कथानायक इस दूकान की गद्दी पर बैठकर पानवाले की उपाधि से विभूषित हुए। अवश्य ही वह कोई शुभ मुहूर्त रहा होगा कि उस पानवाले की गद्दी अभीतक बनी हुई है; भले ही वह नाम मात्र-को हो।

पर यहाँ से पीताम्बर का दूसरा दुर्भाग्य शुरू हुआ। वह क्रियाशील, निरंकुश पीताम्बर अब विचारशील और गम्भीर हो गया। उसका रुद्ध आत्माभिमान कुंठित हो गया; वह निर्जीव, निर्बलात्मा, निश्चेष्ट, अस्थिमांस का पुतला मात्र रह गया। उसने यथाशक्ति अपने स्वभाव और प्रवृत्तियों के अनुसार अपने परि-स्थितियों के संसार से लड़ने, जीवन-संग्राम में विजय पाने का प्रयत्न किया था, पर वह निष्फल हुआ,—संसार ने ही अन्त में उस पर विजय पाई।

क्या वह निर्धन युवक किसी भाग्य-दोष से या अपने दोष से निरंकुश, उच्छृंखल अथवा आत्माभिमानी था ? क्या गरीब के

लड़के में ऐसे गुण शोभा नहीं देते ? नहीं, नहीं, वह सुन्दर, स्वस्थ, सशक्त, सचेष्ट, आत्मसम्मान से पूर्ण युवक ग़रीब का लड़का कैसे हो सकता है ? जब प्रकृति ने अपने सब विभवों से सँवारकर उसे धनी-मानी बनाया था। वह युवक अपना सौन्दर्य पहचानता था, अपने सुन्दर स्वस्थ शरीर के प्रभाव से वह अनजान न था, युवावस्था की प्रवृतियों ने उसके मनःचक्षुओं के सामने जो एक सौन्दर्य का स्वर्ग, आशा-आकांचाओं का इन्द्रजाल उछाल दिया था, अपने और संसार के प्रति जो एक प्रगाढ़ अनुरक्ति एवं उपभोग की सामर्थ्य पैदा कर दी थी,—उसकी अमन्द मादकता से, प्रबल आकर्षण से वह कैसे आत्म-विस्मृत न होता ? वाह्य-जगत के जीवन-संघर्ष का आघात लगते ही उसकी सहज-प्रेरणा उसके अन्दर एक आत्म-विश्वास पैदा करती रहती थी कि उसके अभिमान का, उसके अस्तित्व का मूल्य आँकनेवाला कोई मिलेगा ; कोई अवश्य मिलेगा जो उसकी समस्त आशाआकांचाओं के लिए, प्रवृत्तियों की चेष्टाओं के लिए मार्ग खोल देगा। उनके सौन्दर्य से वशीभूत होकर उन्हें चरितार्थ कर देगा, तृप्त कर देगा। प्रत्येक युवक के भीतर स्वभावतः यह स्फुरणा जन्म पाती है।

पर इस आत्म-सन्तोष के लिए धनी युवकों के पास जाना पीताम्बर की अनुभव-शून्यता एवं भ्रम था। वे इस काम के लिए उससे भी निर्धन थे। यह काम किसी एक व्यक्ति के करने का था भी नहीं। इसका संचालक या सम्पादक हो सकता है हमारा सुव्य-

वस्थित, सामाजिक या सामूहिक व्यक्तित्व। सामाजिक एकता, सामाजिक सुव्यवस्था एवं समुन्नति व्यक्ति का विशद व्यक्तित्व है, जिसकी छत्र-छाया में वह आत्मोन्नति कर सकता है, आत्म-तृप्ति पा सकता है। समाज व्यक्ति की सीमा का सापेक्ष निःसीम है। वह बूँदों की सम्मिलित शक्ति का समुद्र है जिसमें मिलकर प्रत्येक बूँद एकत्रित ऐश्वर्य का उपभोग कर सकता है, पर अपने देश में वह सामूहिक आधार है ही नहीं जिसकी विशद भूमि पर व्यक्ति निर्भीकरूप से खड़ा होकर आगे बढ़ सके। हम सब अनाथ, यतीम हैं, हमारा देश एक महान् सभ्यता का विशाल भग्नावशेष है। हमारे यहाँ प्रत्येक व्यक्ति एक व्यक्तिमात्र मांसपिण्ड-मात्र है—वह कुलीन हो, अकुलीन, धनी हो या निर्धन। वह समाज नहीं है, वह देश नहीं है, उसके पीछे इन सब का सम्मिलित बल काम नहीं करता। वह निराधार है, वह क्षुद्र है।

हम केवल व्यक्तिगत उन्नति, व्यक्तिगत सम्मान, व्यक्तिगत शक्ति को ही समझ सकते हैं, उसी का उपभोग भी करते हैं—अपने सामाजिक व्यक्तित्व का सम्मान, उसकी शक्ति एवं उन्नति का महत्व अभी हमें मालूम नहीं हो पाया, इसीलिए हम कच्चे सूत की लच्छी के उन उलझे और बिखरे तागों की तरह हैं, जो अपनी एकता से बनने वाली रस्सी के बल से अपरिचित हैं।

फलतः, इस विशाल पृथ्वी पर जटिल जीवन-संग्राम की कठिनाइयों का सामना हम में से प्रत्येक को केवल अपने बल पर करना

पड़ता है। अर्थात् प्रत्येक तिनके को बाढ़ का सामना पृथक्-पृथक् रूप से करना पड़ता है! व्यक्ति के लिए देश के व्यक्तित्व का, मनुष्य के लिए विश्व के व्यक्तित्व का अभाव होने के कारण प्रत्येक व्यक्ति के शक्ति की इकाई केवल व्यक्ति ही रह जाता है, और उसके लिए वाह्य-जगत के जीवन-संग्राम के घात-प्रतिघात, उत्थान-पतनों को सहना कठिन ही नहीं असम्भव हो जाता है। दो-एक बार निष्फल होकर वह शीघ्र ही अपने को अयोग्य समझने लगता है, और हतबुद्धि हो अन्त में निराशावादी, भाग्यवादी, दुःखवादी, विरक्त, उदास, द्रोही, द्वेषी, निन्दक सभी कुछ बन जाता है। सभ्यता के ह्रास के युग में राष्ट्र के या समाज के अवनति के युगों में ऐसी ही विचारधारा जनसाधारण की बन जाती है।

इसी विचार-धारा के प्रवाह में प्रताड़ित, प्रतिहत, पीताम्बर भी तिनके की तरह बह गया। समाज की दुर्बलता को वह अपनी दुर्बलता, उसके दोषों को अपने ही दोष समझने लगा। वह अपनी ही आँखों में गिर गया। ईश्वर ने उसे क्यों वैसा हेय, जघन्य और निकम्मा बनाया, यह उसकी समझ में नहीं आया। वह उसे अपने ही कर्मों का, पापों का फल, पूर्व जन्म का, भाग्य का दोष मानने लगा। अपने चारों ओर व्याप्त वातावरण में उसे ऐसे ही विचार और भावनाएँ मिलीं, जो उसके भीतर भी जड़ जमा गईं। उसे अपने से घृणा, अच्छाई से घृणा—जीवन, संसार सब से विरक्ति हो गई। वह अपने अन्तर की जीवनोत्पादक प्रेरणाओं,

अभिलाषाओं, आशाओं, रुचियों को बलपूर्वक दबाने लगा। मन ही मन जीवन-इच्छा के लिए आत्मा का तिरस्कार करने लगा। यह जीवन माया है, संसार भ्रम है, इच्छाओं का अन्त दुःख है; जीवन, संसार, आत्म-उन्नति सब कुछ दुःखमय है, यह सब निर्मम भाग्य का छल है,। ऐसी ही बातों में उसका विश्वास बढ़ने लगा। उसके भीतर कार्य में प्रवृत्त करनेवाली स्फुरणा निश्चेष्ट पड़ गई, मन की सब स्फूर्ति सदैव के लिए जाती रही। उसने अपने से भी गए-बीतों, दुर्भाग्य-पीड़ितों को देखना, उनपर सोचना प्रारम्भ किया; ऐसे विचारों से उसे सान्त्वना मिलने लगी और उसका विश्वास जीवन और संसार की निस्सारता पर बढ़ने लगा। व्यक्ति के जिस क्षुद्ररूप को उसने जीवन और संसार का स्वरूप समझ लिया था, वह अवश्य ही निस्सार एवं दुःखप्रद है। व्यक्ति के विशदरूप का, उसके सामाजिक, दैशिक, विश्व-व्यक्तित्व का चिरन्तन स्वरूप उसे अपने यहाँ कहीं देखने को नहीं मिला। जीवन की समग्रता से कटकर वह अलग हो गया, और पेड़ की डाली से विच्छिन्न पुष्प की तरह मुरझाने और सूखने लगा।

किसी को सुन्दर, स्वस्थ, संसार में रत, आशा, सदिच्छा, सदाशयता में तत्पर देखकर उसके भीतर से एक विद्रूप हँसी निकलने लगी, वह सब का उपहास करने लगा। सभी पर ताने कसना, व्यंग बौछार करना उसका स्वभाव ही बन गया। उसका समस्त विश्वास भाव के विश्व से उठ गया। अभाव का विश्व कठोर है

सही, पर वही सत्य है। सुख, सफलता, सम्पत्ति का स्वप्न देखना अज्ञान है। अब वह मनुष्यों की खोट, उनकी बुराइयों को खोजने लगा। जो कोई सुखी सम्पत्तिशाली दीखता, समाज जिसे आदर-सम्मान देता उसमें भी दो-चार दोष निकालकर वह अपने मन को सन्तोष देने लगा। उसके पड़ोस में उसके किसी सम्बन्धी ने एक विशाल दो-मंज़िला कोठी खड़ी कर दी थी। वह आधुनिक ढंग की, बड़ी ही सुन्दर, उस ग़रीब बस्ती में अपना गर्वोन्नत मस्तक उठाए हुए थी, पर पीताम्बर ने वह सड़क के किनारे है, उसमें पर्दा नहीं, उसके मालिक ने मज़दूरों की तनख्वाह काटी, इत्यादि, उसमें कई दोष निकाल दिए। वह जब मकान जाता उस कोठी की ओर कभी नहीं देखता, पहले ही से आँखें फेर लेता।

हम कभी से इस अभावात्मक सत्य पर विश्वास करते चले आ रहे हैं। ऐसा करने से हम सक्रिय जीवन के घात-प्रतिघात, उसकी स्वास्थ्य-वर्धक स्पर्द्धाओं का सामना करने से बच जाते हैं, हम अपने विशद व्यक्तित्व के उज्ज्वल परिमाणों से अनभिज्ञ होने के कारण क्षुद्र व्यक्तित्व को अपनाए हुए हैं, अपने को सर्वस्व न बना सकने के कारण हम शून्यवत् हो गए हैं। पर सूरज, चाँद और तारे हमें शून्य बन जाने का उपदेश नहीं देते। नीला आकाश, हरी धरती, इठलाती वायु, रङ्ग-विरङ्गे फूल, गाते हुए पक्षी, दौड़ती हुई लहरें हमें दूसरा ही सन्देश देते,

दूसरे ही सत्य का दर्शन कराते हैं। वहाँ अजेय जीवन, अविराम सृजन हमारे मरणशील व्यक्तित्व का, हमारे जड़त्व और निर्जीवता का प्रत्येक क्षण उपहास उड़ाया करते हैं, हमें विश्व की समग्रता की ओर, हमारे अमर व्यक्तित्व की ओर आकर्षित करते रहते हैं। पारस्परिक स्पर्द्धा, द्वेष, द्रोह, छोटे-मोटे सुख-दुख, हानि-लाभ, भेद-भाव के अन्धकार से गिरे हम सर्वत्र-प्रकाशमान सम्पूर्णता से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर नाशमान हो गए हैं।

इसी आभावात्मक सत्य की निर्जीव-सजीव मूर्ति पीताम्बर को हम छुटपन से इस पानवाले के रूप में देखते आए हैं। उसे अब निश्चेष्ट, निर्जीव रहने ही में आराम मिलता है। उसका स्वास्थ्य अब नहीं के बराबर रह गया है। लगातार पान चबाने से दाँत सड़ गए, दिन-रात बैठे रहने से जठराग्नि बुझ गई है। वह केवल जीवित रहने के अभ्यास से जीता है। स्वास्थ्य गँवा बैठने एवं हृदय में निर्जीवता व्याप्त हो जाने के कारण वह अपनी पत्नी से भी प्रसन्न नहीं रह सका। पानवाला बन जाने के कुछ ही महीनों बाद भाई ने उसकी शादी कर दी थी। जब तेल टपक कर समाप्त हो चुका था तब केवल 'बत्ती को जलाने के लिए मानो दीपक को शिखा के पाश में बाँध दिया गया। पीताम्बर का निर्बल रुग्ण बच्चा जब जाता रहा तब उसने सन्तोष की ही साँस ली।

आज दीवाली के रोज़ दूकान सजाते हुए उसने एक पुराना मिट्टी का खिलौना कपड़े की तहों से बाहर निकाल गद्दी के पास रक्खा है। जिसके लिए पाँच साल पहिले यह खिलौना लाया था वह तो रहा नहीं, यह खिलौना रह गया है। "वह मिट्टी का नहीं था इसीलिए, वह मिट्टी का नहीं था !" ऐसा कहते हुए पीताम्बर उसी तरह ठठाकर हँस रहा है।

———

उस बार

सुबोध मसूरी में अपने मामा के यहाँ उस बार गर्मी बिताने गया था। मामा सगे न थे, पर नाते की कमी भरकर अपने उदार स्नेहशील स्वभाव के कारण सगों से भी घनिष्ट लगते थे। साधारण स्थिति से अपने ही परिश्रम के बल पर उठकर वह अच्छे संपन्न हो गए थे। उन्होंने मसूरी में अपना निज का सुन्दर-सा बँगला भी बनवा लिया था। जीवन-यात्रा में सुख-दुख ऊँच-नीच पार कर चुकने पर एक सफल, संपन्न, पक्क अवस्था का लाभ मनुष्य में जिन लोक-प्रिय गुणों का प्रादुर्भाव कर देता है, वे उनमें पर्याप्त मात्रा में थे। वह उदार थे, मधुर थे, मिलनसार और स्वाभिमानी थे। उनके पुट्ठों और आगे बढ़े हुए सीने से अब भी युवापन टपकता था। वे नए विचारों से सहानुभूति रखते थे।

मामी जी का अपना कोई व्यक्तित्व न था, वह पति की छाया थीं, जैसा कि अपने देश की नारियाँ प्रायः हुआ करती हैं। इसलिए घर के वातावरण में काफ़ी सन्तोष और शान्ति व्याप्त रहती। नलिन उनका सब से बड़ा लड़का था, सुबोध का ममेरा भाई। लंबा, हँसमुख, फुर्तीला और कुशाग्र-बुद्धि। उस साल प्रयाग विश्वविद्यालय से एम० एस-सी० फ़ाइनल में सर्व प्रथम आया था। खेलने का सबसे बड़ा शौक़ीन, यूनिवर्सिटी में हाकी

फ़ुटबाल का कैप्टन रह चुका था। खिलाड़ीपन उसका स्वभाव ही बन गया था। नालिन का फुफेरा भाई गिरीन्द्र भी उन दिनों वहीं था, उसने हाल में ही एल-एल० बी० पास किया था और गर्मियों के बाद वकालत शुरू करने की सोच रहा था।

नलिन और गिरीन्द्र के यूनिवर्सिटी के और भी कई मित्र उस साल मसूरी आए हुए थे। सब प्रायः नित्य ही आपस में मिला करते थे; सुबोध अनायास ही उनमें हिलमिल गया था, और अपनी सरल, सहनशील प्रकृति के कारण उसकी सब से ख़ासो मित्रता हो गई थी। यूनिवर्सिटी के लड़कों में जो एक स्वतन्त्रता, पारस्परिकता, आत्म-विश्वास, बेतकल्लुफ़ी, ग़पशप, हास-परिहास का वातावरण मिलता है वह विचारशील सुबोध को अप्रिय न था। उसके जीवन का काफ़ी बड़ा भाग विद्यार्थियों के साथ बीता था पर फिर भी वह जैसे उनसे पूर्णतः परिचित न था। भाव-प्रवण होने के कारण वह आत्म-चिन्तन में अधिक लीन रहता था। परीक्षा के कठिन श्रम के बाद जी खोलकर, छककर, छुट्टियों का उपयोग करते हुए विद्यार्थियों के आमोद-प्रमोद में जो थोड़ी-बहुत उच्छृङ्खलता स्वभावतः रहती है वह सुबोध के किसी काम में न थी। पर तटस्थ रहना उसे अच्छा न लगता था; और निःसंग रहकर वह उनकी रँगरेलियों में भाग लेने का प्रयत्न करता था। विद्यार्थियों की रँगरेलियों और परिहासों में पर्याप्त कदर्यता और भद्दापन रहता है, जिसे वे

जानते हैं, परवाह नहीं करते; पर सूक्ष्म एवं सौन्दर्य-प्रिय सुबोध को कभी-कभी उस भद्देपन को निगल जाने में भीतर ही भीतर कठिनाई मालूम देती थी।

नलिन का मित्र सतीश एक लड़की के प्रेम-पाश में था। उस लड़की के मा-बाप भी उस साल मसूरी आए हुए थे। और सतीश के बँगले के सामने ही उन्होंने बँगला लिया था। सुबह-शाम सतीश को अपनी खिड़की से लड़की के रूप की झलक मिलती रहती थी। वह सतीश के प्रेम से शायद थोड़ी-बहुत परिचित थी। प्रेमियों की चेष्टाएँ कम छिपती हैं, इसीसे कभी कभी खिड़की से मुख निकालकर सतीश को झाँकी दे देती थी।

विजया की चर्चा सतीश कम या अधिक मात्रा में अपने अन्त-रङ्ग मित्रों से कर दिया करता, उसके मन में कुछ भी नहीं रहता था। धीरे-धीरे यह बात सभी साथियों में फैल गई, और मित्र लोग भी टहलते समय विजया के कमरे के कुसुमित झरोखे की ओर प्रायः देख लिया करते थे, इस प्रणय-चर्चा के कारण धीरे-धीरे नलिन के यहाँ एक बैचलर्स क्लब की सृष्टि हो गई। प्रायः सभी अविवाहित लोग थे, सभी का उससे मनोरंजन होने लगा। एक-दूसरे की शादी ठहराना, कौन किसकी प्रणयिनी है, इस रहस्य को ढूँढ निकालना,—ऐसी ही बातों के लिए सब साथी उत्सुक रहते। सतीश की तरह गिरीन्द्र, विलास, उपेन्द्र, नलिन सब की प्रेमिकाओं का धीरे-धीरे पता लग गया, जिसकी कोई प्रेयसी न

मिली उसके लिए भी एक कहानी की प्रेमिका गढ़ दी गई। इसी प्रकार कुमारों के क्लब की मीटिंगों, हाकी, फुटबाल, टेनिस की मैचों, सिनेमा, पिकनिक, तथा सैर-सपाटों में गर्मियाँ प्राय: बीत गईं, बरसात शुरू हो गई। मसूरी की घाटियाँ मखमल की हरयाली के उज्ज्वल, चौड़े हास्य से भर गईं। मित्रों में से बहुत से विद्यार्थी छुट्टियों की बहार लूटकर प्रयाग, लखनऊ, बनारस पढ़ने चले गए।

नलिन, गिरीन्द्र, सुबोध, और सतीश वहाँ रह गए सही, पर परस्पर का मिलना काफ़ी कम हो गया। गिरीन्द्र, वकालत शुरू करने की चिन्ता में पड़ गया कि किसो सीनियर के नीचे काम सीखे; सतीश, जो इस वर्ष लखनऊ से एम० ए०, एल-एल० बी० की डिग्रियाँ ले चुका था, मुन्सिफ़ी का इम्तिहान देने की सोचने लगा। नलिन आई० सी० एस० की तैयारी कर ही रहा था। कभी शाम को घूम-फिरकर लौटने के बाद जब चारों मित्र सुबोध के कमरे में घंटे आध घंटे के लिए मिलते, तो कुआँरों के क्लब की सुप्तप्राय आत्मा फिर जगा दी जाती।

एक रोज सतीश ने परिहास में विजया पर अपना प्रेमाधिकार सुबोध के नाम सौंप दिया, और यह बात एक कापी में, जो नाममात्र को बैचलर्स क्लब का रजिस्टर बना दी गई थी, लिख दी गई। तबसे सुबोध के विवाह की चर्चा भी आपस में छिड़ने लगी। सुबोध उन तीनों मित्रों में से उम्र में आठ-दस साल

बड़ा था, इसलिए, संकोच न मानते हुए भी, नलिन और गिरीन्द्र उसके व्याह की चर्चा कम करते। यह मान लिया गया था कि सुबोध प्रकृति का कुआँरा है, वैसा ही रहेगा। सुबोध की बातों और तटस्थ हाव-भावों से उन्हें ऐसा विश्वास हो गया था कि वह किसी को प्यार नहीं करता, पर बात कुछ और ही थी। सतीश की तरह वह भी एक लड़की को प्यार करता था।

(२)

प्रेम तत्वतः एक होते हुए भी भिन्न स्वभावों में भिन्न रूप से काम करता है। सतीश के लिए विजया का जो मूल्य था, वही मूल्य सुबोध के लिए सरला का होते हुए भी, दोनों का प्रेम-पदार्थ भिन्न-भिन्न तन्तुओं का बना था। सतीश के प्रेम का प्रवाह शरीर से हृदय की ओर, सुबोध का हृदय से शरीर की ओर था। एक फ्रायड के सिद्धान्तों का नमूना था दूसरा प्लैटो के। यह नहीं कि एक प्रेमी था दूसरा कामीमात्र—दोनों में आदर्श-भेद था। सतीश प्रेम को विजया के लिए संचित रखते हुए भी अन्य स्त्रियों से शारीरिक स्वतन्त्रता लेना बुरा नहीं समझता था। वह मनुष्यत्व और पशुत्व को तो अलग राहों से ले चलने का पक्षपाती था। सुबोध देह के संसर्ग को सच्चे-प्रेम के अधीन रखना चाहता था। आत्म-दान से ही उसका पशु मनुष्यत्व की पवित्रता पा सकता था। एक को आत्मत्याग द्वारा योग का अधिकारी बनना पसन्द

था, दूसरे को आत्म-त्याग भोग के लिए केवल साधन-मात्र था। दोनों की मानसिक स्थिति दोनों के लिए सत्य थी।

विजया साँवले रंग की, गदबदे सुडौल अंगों की, रूपसी से अधिक मोहिनी थी। उसकी उभरी छाती, पीन कटि-प्रदेश सतीश के आनन्द के दो संग्रहालय थे। उसके कोमल उरोज-स्तवकों पर गाल रखकर प्रेम की विस्मृति का सुख लूटने के स्वप्न सतीश प्रायः देखा करता था। विजया अपनी चारित्रिक दृढ़ता के लिए मित्र-वर्ग में प्रसिद्ध थी। वह स्थिर-चित्त, प्रेम की अधिक गंभीर परिभाषा में विश्वास रखनेवाली, प्रेम को एक सुव्यवस्थित, सम्मानित गार्हस्थ का भाग सर्वोज्ज्वल भाग माननेवाली शिक्षित लड़की थी। उसके मुख पर उसके मनोभावों की कान्ति थी। उसकी सखियों का कहना था कि सतीश का यौवन-जन्य चांचल्य, दृष्टि, भाव, इंगित एवं अन्य चेष्टाओं से विजया को सदैव घेरे रहना, घूमने में उसका पीछा करना,—जैसा वह प्रेमी युवक प्रारंभ में किया करता था उसे पसंद न था। उसे भले ही सतीश के उन्मुख प्रेम का तिरस्कार करना न सुहाता हो, पर अपने विवाह का प्रश्न उसने अपने वयोवृद्ध दादा की ही रुचि पर छोड़ दिया था। उसके दादा उसके संस्कृत के शिक्षक थे, भारतीय-प्रथा के पक्के पक्षपाती; अपने दादा के स्नेह के सहस्रों एहसानों से दबी विजया उनकी इच्छा को पीछे अपनी इच्छा को आगे रखना उचित नहीं समझती थी। सतीश विजया की इस वृत्ति

का कारण उसका हठ या गर्व समझता था। वह अपने प्रति उसके मनोभावों को जानने को उत्कण्ठित था। वह अपने को उसका प्रेम पाने के सर्वथा योग्य समझता था। वह सुरूप, सुशिक्षित, उम्र में उससे चार साल बड़ा, उससे किसी बात में कम न था। वह महत्वाकांक्षी, अपने भविष्य के लिए यशःकामी भी था। वह विजया पर विजय प्राप्त करना चाहता था। अपने विद्यार्थी-जीवन में वह कई सहपाठिनियों की ओर आकर्षित हुआ था, प्रायः सबने उसकी इस युवकोचित भावना को आदर की दृष्टि से देखा था। वह विजया की इस अननभूत विरक्ति को सहने में असमर्थ था। वास्तव में विजया ने अपने सौन्दर्य और दृढ़ता से, जिसका सतीश में अभाव था, उसे अभिभूत एवं पराजित कर दिया था। वह उसका सामना पड़ते ही कर्तव्य-विमूढ़ एवं अस्थिर हो उठता था। अन्य युवतियों ने उसकी तरुण-लालसा का सोत्कण्ठ आवाहन कर जिस प्रकार उसके मन में सौन्दर्य की पवित्रता एवं कौमार्य की दिव्यता के प्रति एक सस्ता, वयस-सुलभ, प्राणि-शास्त्र के भीतर से आँका जाने वाला मूल्य निश्चित कर दिया था, विजया ने ठीक उसके विपरीत अपने सौन्दर्य और कौमार्य को जीवशास्त्र एवं मनोविज्ञान से ऊपर उठाकर सतीश की पूर्व धारणाओं को अस्त-व्यस्त कर दिया था।

इन सब दुर्बलताओं के वशीभूत होने पर भी सतीश अत्यन्त अकपट हृदय का था। उसके मन में कोई बात नहीं रहती थी।

वह दूसरे की सहानुभूति पाते ही पिघल उठता था। सहानुभूति का दिखावा कर उसके मित्र उसकी द्रवणशीलता का अपने मनोरंजन के लिए तरह-तरह से दुरुपयोग करते थे। सुबोध आत्म-चिन्तन एवं अच्छे-बुरे के विचार में पड़े रहने के कारण लोगों से कुछ खिंचा रहता था और किसी तरह अपनी रक्षा स्वयं कर लेता था। सतीश दूसरों के सौजन्य के स्वांग के वशीभूत हो एकदम उनसे घुल-मिल जाता था, वह अपनी सीमा गँवा बैठता था, दूसरे की सीमाओं पर उसे अधिकार न मिलता था। इसीलिए वह जितनी जल्दी विश्वास कर लेता उतनी ही जल्दी अविश्वास एवं शंका भी करने लगता था। वह मित्र लोगों का मनोरंजन था, मित्र लोग उसके संचालन-शक्तियों के समूह। सुबोध बाहर से बड़ा सीधा लगता था, पर वह सरलपन उसने अध्ययन, मनन एवं विचार करने के बाद अपने लिए अर्जित कर लिया था। वह समझता सब था, सतीश की तरह सहज विश्वास के प्रवाह में बह नहीं जाता था, पर अत्यन्त सहनशील होने एवं समाज के विशद भविष्य में विश्वास रखने के कारण दूसरों की दुर्बलताओं से विचलित एवं व्यथित न होता था। मानापमान, हर्ष-विषाद चुपचाप सह लेता था, दूसरों को केवल सीधा लगता था।

सहज-विश्वास का जीवन मानव-समाज के पूर्ण विकास की ही स्थिति पर संभव हो सकता है। तब तक जन-समूह आत्म-पर की सीमाओं को रखने के लिए विवश है। हम सब को दुहरा

होकर रहना पड़ता है। सतीश को अपने प्रेम के स्वर्ग का निर्माण करने के लिए विजया को प्राप्त करना आवश्यक हो गया था, वह उस पर अपना एकमात्र दावा समझता था, वही उसे अपनी अविचल दृढ़ता के आलिंगन-पाश में घेरकर उसके सतत बहते हुए हृदय को, पहाड़ों की कारा में बँधे हुए सरोवर की तरह, रक्षा कर सकता था। विजया जितना ही खिंचती, वह उतना ही उसकी ओर ढुलक पड़ता था। अपने उत्तेजित क्षणों में वह यहाँ तक कर बैठता था कि विजया से शादी करने का जो अन्य युवक साहस करेगा उसका जीवन सुरक्षित नहीं रहेगा। कभी-कभी वह उसकी रुखाई से चिढ़कर उस पर कुढ़ने भी लगता, उसे घृणा करने की कोशिश करता, उसके लिए अपमानजनक शब्दों का प्रयोग करता, उसके सौन्दर्य और चरित्र की अवहेलना करता, और कुछ समय के लिए उसे मन से भुला देता। क्षोभ और खीझ के वश वह अपने जीवन की हड्डी को हृदय से बाहर निकाल कर अन्य युवकों की श्वानेच्छा के आँधी-तूफ़ान के बीच फेंक देना चाहता था, पर दूसरे ही क्षण उसका प्रेमोन्माद उसे पूर्णतः वशीभूत कर लेता था।

•

(३)

सरला और सुबोध की दूसरी ही कहानी थी। सरला सुबोध से पन्द्रह साल छोटी थी। वह गोरी, अनति दीर्घ, हँसमुख,

चंचल, श्वेत लिलियों की सुकुमार सृष्टि थी। कम-से-कम देह की सामग्री में जैसे आत्मा उतर आई हो। संसार बसाने के लिए कैसे साथी, किन वस्तुओं की आवश्यकता पड़ती है, इन बातों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए वह सदैव के लिए, स्वभाववश, असमर्थ थी। वह केवल भाव की, प्रेम की क्रीड़ा थी, खिलौना थी। वह सुबोध में लीन हो गई थी। उसके बिना अपने आस्तित्व की कल्पना करना उसके लिए असंभव था। वह जैसे सुबोध के प्रेम के समुद्र के बीच भाग्य की आँधी से उड़कर गिर पड़ी थी। उसी के भीतर ऊब-डूब करना, उसी की भावनाओं की लहरों में बहना उसका जीवन बन गया था। वह उस अकूल समुद्र के बाहर निकल ही नहीं सकती थी, यदि सुबोध स्वयं हाथ पकड़ कर उसे किनारे लगाना भी चाहता तो वह उसे स्वीकार ही न करती थी। सुबोध के प्रेम का समुद्र उसकी मुक्ति था, सरला चाहे अन्दर जितना गहरे पैठे, चाहे बाहर जिस छोर तक पैरे—वह अकूल अतल था, सरला पूर्णतः स्वतंत्र !

सरला सब को प्यार करना, सब से प्यार पाना चाहती थी। वह एक विशद सामाजिक, सामूहिक व्यक्तित्व का उपभोग करना चाहती थी, जिसके लिए उसका चारों ओर से घिरा हुआ समाज अभी तैयार न था। फलतः, स्थिति-ज्ञान से शून्य, जब जब वह अपने पावों के पंक में गड़ जाने की आशंका से भयभीत होकर सुबोध के पास लौट आती तब-तब सुबोध-अबोध सरला के

पाँवों को अपने अविराम सहज स्नेह की धारा से धोकर स्वच्छ कर देता, वह प्रेमी से भी अधिक उसका अभिभावक था। सरला अत्यन्त शृङ्गार-प्रिय और सौन्दर्य-प्रिय थी। किसमें कहाँ सौन्दर्य छिपा है, इसे उसकी आँखें सब से पहले ढूँढ़ निकालती थीं। वह सब की साथिन और सुबोध की प्रेमिका थी।

सुबोध कलाकार था। प्रेम उसका जीवन था। जीवन की प्रत्येक विकासोन्मुख अवस्था का, उसके समस्त स्वरूपों का, वह प्रेमी था। सब से उसकी सहानुभूति थी। जिस वस्तु पर उसका प्रेम पड़ता वह स्वयं प्रेम में परिणत हो जाती, अपने ही प्रेम में वह सुरक्षित था। प्रेम उसकी आत्मा थी, मन था, शरीर था। अतः सुबोध सरला को प्यार करता था या नहीं, यह प्रश्न ही नहीं उठ सकता था। सरला सुबोध को अनन्य हृदय से, अपने संपूर्ण अस्तित्व से प्यार करती थी, यही बात उन दोनों के सम्बन्ध में प्रधान थी। सुबोध प्रेम था तो सरला उसकी सार्थकता। फलतः सरला सार थी, रस थी, सुबोध उस प्रेम के मधुर फल का छिलका, जिसमें सरला की मधुरता और रस स्वयं आ गया था। सुबोध से भेंट होते ही सरला दूसरे ही क्षण उसमें मिल गई, उसमें गिर पड़ी, तब वह बारह साल की थी। सुबोध अनन्त शून्य था, वह अजस्र शक्ति; वह निश्चल कूलों की सहिष्णुता, वह चंचल, उद्वेलित जल-धारा। दोनों कब मिल गए, कैसे मिल गए,—दोनों इससे अनभिज्ञ थे!

यह बात तब प्रकट हुई जब सरला की शादी की चर्चा छिड़ी। वह अब युवती हो चुकी थी, कालेज में पढ़ती थी। उसके पिता संपन्न थे। सुबोध से सभी बातों में योग्य, यूनिवर्सिटी की डिग्री लिए, स्वस्थ, सुन्दर, समवयस्क, धनी युवक उसके प्रेम के प्रार्थी हुए। उसके मा-बाप की हार्दिक इच्छा थी कि सरला इनमें से किसी एक को अपना मनोनीत साथी बनाए। सुबोध और सरला के प्रेम की बातों से उसके मा-बाप परिचित थे; वे उससे सन्तुष्ट न थे। उस कोरी भावुकता को वे मूल्य-हीन ही न समझते थे, उसे सरला और सुबोध की दुर्बलता, अनुभव-शून्यता और शायद इससे भी अधिक मानते थे,—उनकी दुर्बुद्धि और दुःखान्त नाटक का सूत्रपात! पर फिर भी उन्हें सरला की वयस-प्राप्त वृत्ति एवं सुबोध की सच्चाई और सौजन्य पर आन्तरिक विश्वास था। वे जानते थे कि सुबोध सरला को इस विपत्ति से बचाएगा, उसके प्रेम का एवं उनके विश्वास का इस प्रकार दुरुपयोग नहीं करेगा। उससे अनुचित लाभ न उठाएगा। यह बात ठीक भी थी। यदि केवल सुबोध की बुद्धि एवं आत्म-संयम पर यह बात निर्भर होती तो वह सरला को उसके मा-बाप के मनोनीति युवक के साथ स्वर्ण-बंधन में बाँध कर अपने कर्तव्य को चरितार्थ करता। वह अत्यन्त सहिष्णु था और उसकी धारणा थी कि वह सरला के सुख के लिए भारी से भारी त्याग, और कष्ट उठा सकता है।

प्रेम और कर्तव्य, श्रेय और प्रेय की समस्याएँ भी मानव-

जीवन की अन्य समस्याओं की तरह कभी न सुझलने वाली समस्याओं में से हैं। सच तो यह है कि मानव-जीवन न श्रेय और प्रेय के ज्ञान से चलता है, न श्रेय-प्रेय के सामंजस्य से, चाहे प्रेम के लिए कर्तव्य की बलि कीजिए और कर्तव्य के लिए प्रेम की। मानव-जीवन शायद किसी दूसरे ही, सत्य से चलता है, पर वह इस कहानी का विषय नहीं। सरला और सुबोध का एक दूसरे को छोड़ देना उनकी शक्ति का परिचायक भी हो सकता था, उनकी दुर्बलता का भी। पर शक्त और निःशक्त ये मनुष्य के विभाग या विशेषण हो सकते हैं, प्रेम के नहीं: प्रेम न शक्त है, न अशक्त। सुबोध के लिए सरला का त्याग कर देना कठिन न था, पर वह उसके वश में न था। क्योंकि उस प्रेम का कोमल या कठोर, दुर्बल या सबल छोर था अबला-सबला सरला के हाथ में। वह सुबोध से विच्छिन्न होने की कल्पना ही नहीं कर सकती थी। सुबोध की शारीरिक, मानसिक, आर्थिक एवं वयोगत सभी अवस्थाओं से वह पूर्णतः परिचित थी। पर उसका सुबोध तो इन सब से परे केवल उसके प्रेम की निःसीमता था। वह समय-स्थिति से पीड़ित व्यक्ति नहीं, उसके प्रेम का अमर व्यक्तित्व था। सरला तो उसके साथ भोग की, सुख की, कल्पना भी नहीं कर सकती, वह तो उसके लिए त्याग और दुख भोगना चाहती है। इसी में उसकी प्रेम-प्रज्वलित आत्मा को तृप्ति मिलती थी। सुबोध के लिए मरना, मिटना, तड़पना, रोना, उसके लिए

अपने को नष्ट कर देना, जो कुछ उसमें अपना रह गया है उसका विनाश कर देना चाहती थी। अरे, सुबोध तो सरला है, वही है। सरला को कोई प्यार करे इस असंगत बात को तो वह सह ही नहीं सकती, दूसरे का प्रेम तो उसके लिए बोझ है, दुःसह भार। वह तो स्वयं प्यार करना जानती है, अपने को देकर उसे मुक्ति का आनंद मिलता है, दूसरे का प्रेम पाकर बन्धन की यातना! दूसरे के प्रेम की कल्पना को सार्थक करने के लिए अपने में प्रेमिका की दिव्यता की साधना करना उसके वश की बात नहीं है। वह कैसी स्वतन्त्र, क्रियात्मक, चंचल, प्रगतिशील है!—वह तो स्वयं बहना, अविराम, अबोध रूप से बहना चाहती है। वह वेग है, दुःसह वेग, सुबोध निःसीम, निस्तल आकर्षण! वह प्रेमिका है, सुबोध प्रेम!

सरला हृदय है, उसके पिता विवेक—वह बुद्धिवादी नहीं विवेकवादी हैं। सरला उन्हें अपदार्थ, दुराग्रही, निर्बुद्धि लगती है तो क्या आश्चर्य? सरला के पिता अच्छे-बुरे का गणित जानते हैं, सरला प्रेम का गणित। वह इकाई से आगे कुछ देख ही नहीं सकती, उसकी वह इकाई है सुबोध! प्रबोध बाबू संसार को समझते हैं, सुख-दुख, हानि-लाभ, गुण-दोष—परिणाम को सदैव सामने रखकर विचार करते हैं। वह सरला-सुबोध पर अन्याय करना नहीं चाहते, उनसे सहानुभूनि भी रखते हैं। उनके भी हृदय है, उनके कार्यों, विचारों में उसका ऊष्ण स्पन्दन-कंपन स्पष्ट

सुनने को मिलता है, पर प्रधानता वह सदैव विवेक को देते हैं। कर्तव्य विवेक का औरस है, दुख-सुख प्रेम के भाई-बहिन। सरला-सुबोध से सहानुभूति रखते हुए भी प्रबोध बाबू उनसे संतुष्ट नहीं रहते थे। वे जानते थे कि सुबोध का सांसारिक मूल्य नहीं के बराबर है; और कोई मूल्य है या नहीं, वह विचारणीय है, कहा नहीं जा सकता था। ऐसी हालत में सरला को जान-बूझकर अन्धे कुँए में गिरने देना कैसे बुद्धिमानी कही जा सकती थी! उसमें पानी न निकला तो? कन्या के भविष्य के लिए पितृ-हृदय शंका और स्नेह से भर उठता था।

पर घर में दीप जलाकर प्रकाश का उपयोग करना एक बात है, स्वयं दीप की तरह जल उठकर प्रकाश बन जाना दूसरी बात! प्रेम ज्वाला है, वह जिस पर पड़ता है उसी को भस्म कर ज्वाला में बदल देता है। वह प्रकाश-पुत्र है। या प्रेम की सेवा कीजिए, या संसार से सेवा करवाइए! या स्वर्ग की सृष्टि कीजिए या स्वर्ग का उपयोग कीजिए! या पतङ्ग की तरह के अपना सर्वस्व स्वाहाकर असीम प्रकाश बन जाइए, या सुख, संपत्ति, संस्कृति, और स्वर्ग में सीमित हो जानेवाले संसार की कामना कीजिए। एक मरण शील है, दूसरा अमर। एक सुख से दुख की ओर ले जाता है, दूसरा दुःख से सुख की ओर। सूक्ष्मतः, दोनों भिन्न भी हैं, अभिन्न भी।

(४)

गिरीन्द्र किसी विशेष लड़की को प्यार नहीं करता था। वह वकालत जम जाने पर किसी सुन्दर लड़की के साथ शादी करना चाहता था। उसका स्वभाव ही ऐसा था कि वह प्रेम में सतीश की तरह कभी आत्म-विस्मृत नहीं हो सकता था, मानवात्मा के प्रायः दो स्वरूप देखने को मिलते हैं। एक प्रवृत्तियों के समुचित उपयोग के लिए साधना करता है, दूसरा प्रवृत्तियों से ऊपर उठ जाने के लिए। एक और भी स्वरूप होता है जो प्रवृत्तियों के हाथ का खिलौना होता है, पर इससे हमारी कहानी का संपर्क नहीं। गिरीन्द्र पहले रूप का द्योतक था, सतीश दूसरे रूप का। जीवन की आवश्यकताओं के लिए मार्ग मिल जाने पर गिरीन्द्र के किसी सुन्दरी के पाश में सीमित हो जाने की संभावना थी, पर सतीश प्रवृत्तियों के विषयों के बीच कूदकर, उनको थकाकर, एवं उनके संमोहन से उठकर, विशद जीवन में प्रवेश करना चाहता था। वह अपने स्वभाव से विवश था, संयम से काम चलाना नहीं जानता था।

एक रोज़ कुँआरों के क्लब में पास-पड़ोस, जान-पहचान की लड़कियों को सौन्दर्य-प्रतियोगिता के अनुसार नम्बर दिए गए। उस रोज गिरीन्द्र ने अपने लिए नम्बर दो सुन्दरी कन्या को चुना था। नम्बर एक कुछ बीमार रहती थी। उस पीढ़ी के कुमारों में नलिन की ऐसी ऐहिक-स्थिति थी कि वह सर्व-प्रथम

या द्वितीय कुमारी को अधिकृत कर सकता था। प्रायः सभी कुमारियों के पिता नलिन के पिता से उनके पुत्र के प्रार्थी थे। दयाशंकर ने इसका भार नलिन की ही रुचि पर छोड़ रक्खा था। वह स्वयं पुत्र के आइ० सी० एस० की परीक्षा समाप्त कर लेने तक उस पर विवाह के बारे में किसी प्रकार का दबाव नहीं डालना चाहते थे। नलिन छिपे-छिपे गीता को प्यार करता था? यद्यपि वह अपने प्रेम की बात किसी पर प्रकट होने नहीं देता था। वह गीता को छोड़कर और सभी संभव-असंभव कुमारियों के प्रति अपना अनुराग मित्रवर्ग पर प्रकट करता रहता था। और उनके सौन्दर्य-संमोहन एवं अपने प्रेम के बारे में छोटे-मोटे कल्पित क़िस्से भी गढ़ लेता था। इस प्रवृत्ति के दो कारण थे, एक तो उसका खिलाड़ीपन, दूसरा अपने मित्रों में छैला अथवा डान जुआन की प्रसिद्धि पाने की इच्छा। पर मित्रवर्ग उसको चारित्रिक दृढ़ता से अपरिचित न थे, इसलिए उसकी इस युवकोचित लिप्सा पर हँस देते थे। डान जुआन की मूल भावना है शैतान के प्रति सहानुभूति या प्रेम; उसे कला लोकोत्तर, भाववाचक सौन्दर्य प्रदान कर चुकी है। नलिन चरित्र की आड़ में चरित्र-हीनता का अभिनय कर अपनी चारित्रिकता का उपभोग करने के साथ-साथ हमारे युवकों में प्रचलित आधुनिक छैलापन की वृत्ति को भी कुंठित नहीं करना चाहता था, क्योंकि हमारा बेकार, ज्ञान-संदिग्ध युवक-समाज शिष्ट और शालीन कहलाए जाने में झेंपता है। स्वयं दूसरों की

प्रेमिकाओं के बारे में जानने की उत्कंठा नहीं तो इच्छा रखते हुए भी वह अपनी प्रेम-कथा को अत्यन्त सुरक्षित रखना चाहता था। उसका यह दुहरा भाव खटकता हो यह बात न थी, क्योंकि उसके पीछे कोई बुरी भावना न थी। मित्रवर्ग में प्रेमी-प्रेमिकाओं के बारे में हास-परिहास लगा ही रहता है, नलिन भी उसमें ख़ूब दिलचस्पी लेता था। पर अपनी प्रेमिका को विनोद का केन्द्र बनाना, या अपने प्रेम अथवा अनुरक्ति की बात को दूसरों के मनोरंजन की सामग्री बना देना, उसे परिहास के रंगो, व्यङ्ग-वाणियों से सस्ते, साधारण, प्रकट और पक्क रूप में देखना वह नहीं सह सकता था,—उसे संकोच भले ही न होता हो। यह तो उसके युवक-हृदय में प्रतिष्ठित उस प्रथम प्रेम की प्रतिमा कुमारी को जो पवित्रता, दिव्यता, रहस्य, मधुरता, सुकुमारता, सौन्दर्य, अपार्थिवत्व, चाँदनी, इन्द्र-धनुष, स्वप्न, उषा, लहर, बिजली—सब की सार है, उसे एकदम, जनसाधारण जिस पर चलते हैं, उस राह की धूल में मिला देना, सामान्य प्रतिदिन के प्रकाश में खोल देना, उसकी अमूल्यता को मूल्य-हीन बना देना हुआ। वह तो असामान्य है, अप्रतिम है! दांपत्य का मधुर गुह्य स्वर्ग जो अभी उसके लिए कल्पना मात्र था, पीछे वास्तविक होकर भी आधी कल्पना ही रहता है; नारी जो अज्ञेय है, गुलाब की तरह, सौन्दर्य की तरह सदैव अज्ञेय ही रहती है; जो रहस्य एवं कल्पना की बनी है, छूने पर भी छुई नहीं जा सकती, बाहुओं में बाँध लेने

पर भी बाँधी नहीं जा सकती,– वह सृष्टि में सब से सारमयी, पूर्णतामयी, नित्य नई, प्रत्येक पल बदलती हुई, नारी–कुमारी–प्रेमिका–देवी–परी–प्रभात-संध्या, वसन्त-शरद की सार्थकता–संसार के, जोवन के समस्त अभावों की पूर्ति— ...उसका नाम ? उसका नाम भी है ? वह रूपसी अरूप, वह नामवती अनाम है ! अनिर्वचनीय है ! रहस्य है ! नहीं, नहीं—नलिन ! वह दुहरा भाव ही अच्छा ! उसका नाम नहीं लिया जा सकता ! हाय रे नवयुवक ! यौवन की समस्त उद्दाम आशा-आकांक्षाओं, रक्त-मांस, श्वासोच्छ्वासों, स्वप्न-जागृति, रोमांस-कवित्व से निर्मित कुमारी—कामिनी !—वह परिहास, प्रमोद, गद्य, प्रत्येक क्षण की वस्तु बनाई जा सकती है ? इसके लिए और बहुत-सी सामग्री संसार में है ! नवयुवक की आँखों का सम्मोहन क्यों मिट्टी कर दिया जाय ?—दूसरों की प्रेमिकाओं की चर्चा हो, वह उन्हें नहीं जानता, वह तो केवल एक मुख को जानता है, एक मूर्ति को, एक सौन्दर्य की देव-बाला को ! वही तो प्रेमिका है, प्रेम की वस्तु हो सकती है। दूसरी कुमारियों का परिहास होने न होने का उसके मन में प्रश्न ही नहीं उठ सकता, वे प्रेमिका, प्रणयनी हो ही नहीं सकतीं, ईश्वर ने ही उन्हें नहीं बनाया है ! और किसी के आँखें नहीं, किसी को परख नहीं,—आदर्श को वही पहचान सका, अपना सका है ! औरों पर वह दया करता है, तरस खाता है, उनसे सहानुभूति रखता है।

पर समय बदलेगा,—जब छरहरा और गदबदा शरीर, गोल

और लंबा मुख, काले और भूरे बाल, नीली और काली आँखें, चंचल और गंभीर स्वभाव, मीठी और पतली आवाज़—सभी का भेद, सभी तरह की नारियों का सौन्दर्य रहस्य धीरे-धीरे उसके हृदय में प्रस्फुटित हो सकेगा, और सब के भीतर समान-रूप से उसे आदर्श के, प्रेमिका के, अप्सरी के, देवी के दर्शन मिलेंगे। वह समय शायद उसके लिए अपनी प्रेमिका के प्रति सच्चे अनुराग को एकान्त भाव से सजीव रखने, उसका प्रमाण देने का, कठिन परीक्षा काल होगा। पर तब गार्हस्थ्य का सत्य, उसके सुनहले बंधन, उसकी गौरव-गरिमा नलिन के तुलनात्मक विचारों एवं आवेगों को सीमित एवं केन्द्रित करने में सहायक होंगे। गार्हस्थ्य का रूप, अपने पराए का भाव, मिट जाएगा, उसका सर्व-व्यापक भाव जाग्रत हो उठेगा। तब मोह और ममत्व के छिलके के भीतर छिपे हुए प्रेम को अविराम लगन एवं आसक्ति के पंखों से घेर कर सेंकना नहीं पड़ेगा, अण्डे के बन्धन खुल जाएँगे और उसके भीतर से जो जीवन का प्रेम मुक्त हो बाहर निकलेगा वह अपनी रक्षा करने में स्वयं समर्थ हो सकेगा।

(५)

बरसात समाप्त हो जाने पर सुबोध मसूरी छोड़कर प्रयाग चला आया था। कुछ ही सप्ताह बाद उसे जो दो पत्र मिले उनका सारांश क्रमशः नीचे दिया जाता है।

(पहला पत्र)

× × × दिल्ली।

१० सितम्बर, ३५

प्रिय सुबोध,

मैं आजकल यहाँ हूँ। विजया से अब मेरा दिल हट गया है। उसका कारण यह है कि ....

....

अब मुझे स्पष्ट जान पड़ता है कि उस पर मेरा प्रेम न था, केवल फ़ैन्सी थी। यहाँ आने पर मेरा जी बिलकुल ही बदल गया है। ....यह लड़की विजया से कहीं सुन्दर है। इस थोड़े से समय में ही मेरी उससे गहरी मित्रता हो गई है। सब से बड़ी बात यह है कि यह वैसी सूखी और हठी नहीं। ....

.... तुम्हारी क्या राय है शीघ्र लिखना।

तुम्हारा—सतीश।

(दूसरा पत्र)

मसूरी

१५ सितम्बर, ३५

प्रिय सुबोध दद्दा,

तुम्हारे पत्र का उत्तर देने में विलंब हुआ, क्षमा करना। तुम्हारे चले जाने के बाद ....

··············उन लोगों का पिता जी पर बड़ा जोर पड़ रहा है कि इसी जाड़ों में शादी कर दी जाय। तुम्हें मेरी पसन्द पसन्द है। आशा है उस अवसर पर तुम अवश्य आवोगे।
···

तुम्हारा—

नलिन।

—

दम्पति

पार्वती को शादी छुटपन में हो गई थी। वह गाँव की लड़की थी। पिता खेती-बारी का काम देखते थे। जात के ब्राह्मण थे, थोड़ी सी ज़मीन थी, स्वयं खेती का काम न कर सकने के कारण उन्होंने असामो रख लिए थे। जो कुछ उससे पैदा हो जाता उसी में किसी तरह गुज़र कर लेते। कुटुम्ब कुछ छोटा न था। मा अभी जीती थी। एक विधवा भावज थी, जिसके दो बच्चे थे। उनके भरण-पोषण का भार भी पार्वती के पिता पर था, पार्वती से बड़े चार भाई बहनें थीं। भगवान की कृपा से किसी तरह दिन अच्छी तरह कट जाते थे। अधिकांश समय भजन-पूजन, भागवत-रामायण के पठन-पाठन में व्यतीत होता था। गाँव में मान भी अच्छा था। छोटे-बड़े सब में अपने नेक स्वभाव के लिए प्रसिद्ध थे। दान-दक्षिणा में जो धन मिलता था उसी से पार्वती के बड़े भाई इंट्रैन्स तक पढ़ सके थे। एक गाँव के ब्रांच आफ़िस में पोस्टमास्टर था, दूसरा डिस्ट्रिक्ट बोर्ड में क्लर्क। दोनों अपनी बहुओं-बच्चों का पालन-पोषण करने लायक़ हो गए थे। पार्वती की बड़ी बहनों की शादी भी अच्छे ही घरों में हुई। दोनों खुशहाल थीं। यही सन्तोष उसके नेक दरिद्र पिता की मानसिक संपत्ति थी।

पार्वती की शादी भी शहर ही में हो गई। उसके पिता की नेकी में प्रभाव था। अब वह निश्चिन्त हो और भी तल्लीनता से भगवान की आराधना में समय-यापन करते थे। पार्वती के पति शहर के डाकख़ाने में क्लर्क थे, पुराने अंग्रेज़ी मिडिल पास थे। दुबले, पतले थे सही, पर स्वास्थ्य अच्छा था। पार्वती के भाग से ही उसे ऐसे स्वामी मिले थे। पार्वती के सिवा उनके और कोई विनोद न था, पोस्ट-आफ़िस से सीधे घर आते और बालिका पार्वती के सहवास का सुख लूटते। और किसी ओर उनकी आसक्ति या रुचि नहीं पाई जाती थी।

पार्वती का रंग साँवला था। लंबी नाक, लंबा मुख, काली-चिकनी स्नेह-करुणा-मिश्रित आँखें, हँसी में लाज, लालसा और कुछ कुछ विजय-दर्प था। नवयुवती होने के कारण सुन्दर न होने पर भी बुरी न लगती थी। शादी के बाद चौदह साल की होने पर पार्वती स्वामी के घर आई थी, गौना तभी हुआ था। उसके स्वामी के लिए उसका स्त्रीत्व काफ़ी था, सुन्दरता की उन्हें ऐसी परवाह न थी। जिस प्रकार गाँव के साधारण संसार में, पिता के सात्विक गृह में पली हुई पार्वती के मन में पति के घर के लिए कोई विशेष कल्पना न थी, केवल ब्याह का अनिर्वचनीय भाव और पति मिलने का लालसा-हीन, अज्ञात, गुप्त सुख ही सब कुछ था, उसी तरह पार्वती के पति के लिए भी स्त्री की सुन्दरता और गुणों का अधिक मूल्य नहीं था, केवल किसी

स्त्री के अपनो पत्नी होने के भाव में ही सबसे अधिक मोहिनी थी। संभव है यह नई जवानी के कारण हो या साधारण वातावरण में पलने के कारण। दूसरी अपनी बन गई है, कैसा मधुर रहस्य है! दूर एक दम समीप आ गया, नहीं दूर-पास का भेद भी नहीं रह गया, कल्पना ने सत्य का आसन ग्रहण कर लिया, अपने ही साथ, एक ही आसन! उसे छिपाकर, कल्पना हीं रखकर, उसकी मनोहरता को चारों से घेरकर उसकी रक्षा करनी चाहिए। पत्नी के प्रति उनके अस्पष्ट भावों का ऐसा ही कुछ अर्थ था। वह स्वभाव से थे भी स्त्री-प्रिय। उस स्त्री के बड़े भाग्य हैं जिसे स्त्री-प्रिय स्वामी मिलता है, पुरुष तो बाहर ही के संसार में खोया रहता। गाँव की पार्वती के और भी बड़े भाग्य थे जो वह शहर का घर और स्त्रैणपति पा गई! बाहर की सारी संपत्ति जैसे उसे अपनी मुट्ठी के भीतर मिल गई। पति का समस्त लाड़-प्यार और ध्यान अपनी ओर खिंचा पाकर पार्वती आत्म-विजय, दर्प और आनन्द से पूर्ण होकर जीवन व्यतीत करने लगी। गाँव की लड़की होने के कारण वह घर का सारा काम-काज बात की बात में पूरा कर डालती, इसमें उसे ज़रा भी आलस न लगता था। वह हृष्ट-पुष्ट थी। अपने ही हाथ से खाना पकाती, रोटी बनाकर बड़े चाव से पति को खिलाती। कभी-कभी, पेट में अधिक न समा सकने के कारण, विवश हो पत्नी का आग्रह टाल देने पर, दंपति में मधुर-कलह का

भी उदय हो जाता, पर वह दोनों की आँखें मिलते ही डूब भी जाता था। पार्वती के प्रेम में समानता-भाव से अधिक आदर ही का भाव था। इसीलिए, जिस प्रकार प्रेमी-युगल परस्पर विश्वास एवं प्रेम का उपभोग करने, प्रायः लड़ने, एक दूसरे को उत्तेजित करने एवं खिझाने में किसी प्रकार का संकोच या कसर नहीं रखते, उस प्रकार का दृश्य पार्वती कभी अपने सरल दांपत्य-नाटक में न उपस्थित होने देती। पति के कटाक्षों, तानों, उत्तेजनाओं को वह हँसकर, सिर मटकाकर, सहकर निर्मल कर देती।

पार्वती को कपड़ों का अधिक शौक़ न था। बनाव-शृङ्गार की ओर कभी उसका ध्यान ही न जाता। वह हमेशा सीधी-सादी लिबास में रहती। दूसरी स्त्रियों के रूप से उसने कभी अपने रूप की तुलना भी नहीं की। सुन्दरता, साज और शृङ्गार के परे उसके स्वामी ने अपने समस्त हृदय से उसे जिस रूप में अपना लिया था, स्वीकार कर लिया था, उसी से उसकी आत्म-तृप्ति हो जाती थी। पति के अधिक प्रेम के कारण उसकी शृङ्गार और भोग की लालसाएँ सीमित हो गईं। गृहस्थी के ख़र्च से जो कुछ बचता उससे पार्वती अपने लिए गहने बनवा लेती थी, उन्हें वह संपत्ति समझती थी, जिससे लक्ष्मी स्थिर रहती थी। वे गहने पति को रिझाने के काम में नहीं आते थे, हाँ, कभी तिथि-त्योहार के रोज़ या पास-पड़ोस में ब्याह-काज के समय पार्वती गहनों के चलन

का खूब सदुपयोग करती थी। उसके स्वामी उसे अधिक देर तक बाहर नहीं रहने देते थे। पार्वती का भी कहीं जी नहीं लगता था। भीतर ही भीतर उसे जान पड़ता था कि बाहर जिन सब वस्तुओं से स्त्री का मूल्य आँका जाता है, वैसा उसमें कुछ नहीं है। केवल उसके स्वामी के ही ऐसी दिव्य-दृष्टि है कि जिसने आत्मा के भीतर छिपा उसका गौरव पहचान लिया, और उस पर निछावर हो गए। इसीलिए पार्वती भी सखी-सहेलियों से कटकर स्वामी के ही पास जीवन का अनुभव करती, उसे पति को घेरे रहने की आदत पड़ गई थी।

इस दंपति के बीच कुछ अधिक बातें या रसालाप नहीं होता था। दोनों केवल एक दूसरे की उपस्थिति के प्यासे थे। दोनों अपने को एक दूसरे की आँखों से और सम्बन्ध में देखकर केन्द्रित एवं आत्मस्थ हो सुख पाते थे। दोनों के बीच दूरी रहने पर भी जैसे शरीर शरीर छुए रहता था। वह भले ही किसी उच्च श्रेणी का असीम बन जाने का आनंद या भाववाचक उल्लास न हो, पर वह सीमित बन जाने का सुख था, और पूर्ण सुख था, मांस का सुख था। एक का मन दूसरे का शरीर-रूप धारण कर लेता था, दोनों के मन एक दूसरे की गन्ध से भरे रहते थे,—इसीलिए दूर रहने पर भी दोनों के शरीर मिले रहते थे।

उनकी आपस में बिलकुल सामान्य बातें हुआ करती थीं। न उनमें कला रहती, न संस्कृति, और न भाव-व्यञ्जना। सत्यं को

दोनों अपने भीतर—गहरे भीतर—छिपाए रहते, और उस असलियत के परस्पर छिपाव का दोनों उपभोग करते। वे पति-पत्नी हैं, सब तरह से एक हैं, एक को दूसरे पर अधिकार से, पूर्ण स्वतन्त्रता और...प्रेम! उँह, इन बातों को कहने की भी ज़रूरत है? इन बातों की याद भी क्यों आए? जीवन का सार अन्तस्तल में छिपा रहे। क्या हृदय में धड़कन नहीं है? कौन हर समय उस पर मन देता है, वह तो जीवन का रहस्य ही है! गुप्त, अति गुह्य! उस पर विस्मृति के जितने परदे पड़ सकें उतना ही सुख है, आनन्द है, स्वतन्त्रता है। याद आने से जैसे मन दबने लगता है, हृदय पर बोझ आ जाता है, आशंका, भय, ताप—न जाने क्यों? नहीं, नहीं, वे एक नहीं, दो हैं, अपरिचित हैं, भिन्न हैं, उन्हें आपस में कुछ बोलना चाहिए, स्वाँग करना चाहिए, सहानुभूति, आदर रखना चाहिए—कुछ व्यापार तो हो। एक होना तो चुप्पी है,—वे दो हैं।

ओह, उनकी कैसे बातें होतीं थीं? उनमें केवल वाणी होती, शब्द होते, मन की गर्मी और ठण्ढक होती। प्रेम-प्रकाशन नहीं, भाव नहीं, अलंकार नहीं—और अर्थ भी क्या होता? उनकी बातें वस्तुएँ होतीं, यही आटा-दाल, घर-बरतन, तरकारी इत्यादि। उनकी बातें कार्य होतीं—आँखों का मिलना, झपना, हाथों का उठना-गिरना, परस्पर सेवा इत्यादि। फिर भी न जाने कैसे इन्हीं जड़ चेष्टाओं द्वारा उनके भीतर रस छलकता रहता था, गुप्त रूप

से ! क्या लिखूँ ? कुछ भी तो प्रकट नहीं है,—सब कुछ एक दम छिपा हुआ, साधारण, प्रचलित, प्रतिदिन का। कला के लिए उनकी कहानी में स्थान भी है ? कला को छिपाना ही कला है या नहीं, पर अपने को छिपाना ही उनका जीवन था। एक क्लर्क की गृहस्थी का, गाँव की अशिक्षित साँवली पत्नी और शहर के नाममात्र को शिक्षित निर्बल पति के जीवन का जो साधारण, सुन्दरता-हीन गद्य था उसे उन्होंने इतना अधिक अपना लिया था या भुला दिया था कि वह उनका सर्वस्व बनकर, कुछ न बनकर, पद्य हो गया था, उनकी लय में मिल गया था। ओह, कितना सामान्य, सस्ता, प्रति दिन का, सब का, कामकाज-मात्र का उनका वह कवित्व होता था ! वे दोनों मांस के टुकड़े या पिण्ड थे। आत्मा और मन भी मांस बन कर मूक, जड़, विचार-बुद्धि-शून्य बन गए थे, या उनसे ऊपर उठ गए थे ? वे शायद चेतना भी खो बैठे थे—हम हैं इसका ज्ञान भी। केवल दो मांस-लोथ परस्पर घुल-मिलकर अपने को भूल गए थे, घुलने-मिलने का संस्कार बन गए थे। एक-दूसरे को अति-अधिक पहचानते थे, स्वयं खो गए थे।

यह सब तो मैंने ज्यों का त्यों लिख दिया, पर इस बीच समय और सृष्टि-चक्र भी तो अपना काम करते रहे। मनुष्य-प्रकृति, प्रवृत्तिएँ, शारीरिक संपर्क, ब्याह की मुक्ति सभी ने मिलकर, चिर-परिचितों की तरह आकर, पार्वती के संसार को बदलने में, बड़ा बनाने में मदद दी। इतिहास, शास्त्र और स्वभाव की दुहाई देनी

व्यर्थ है। जन-संख्या का प्रश्न, सन्तान-निग्रह, कृत्रिम-अकृत्रिम उपाय कल की बातें हैं। यह सत्य से भी अधिक दम्पति के लिए मानी और जानी हुई बात थी,—यही कि दोनों अब अधेड़ हो गए, पार्वती कई लड़के-लड़कियों की मा बन गई। ऐसा ही तो होता आया है, हो रहा है और होगा। भगवान न करे कि किसी के कुछ और हो! हाँ, तो वित्तानुसार कई छोटे-बड़े उत्सव आए, गृहस्थी में रोना आया, हँसी आई; कलरव-किलोल, पुचकार-फटकार, सुख-दुःख सब में अभ्युदय के ही चिह्न प्रकट हुए। नए रूप, रंग, नई इच्छा, आशाएँ। नए-नए कलह और नई चिन्ताएँ! बहुत बड़ा परिवर्तन उपस्थित हो गया। प्रारम्भ की छोटी सी गृहस्थी नई हुई कि पुरानी, आगे बढ़ी कि पिछड़ी, ये बातें किस काम की हैं? जैसा होता है, हुआ। दंपति की शारीरिक, मानसिक, आर्थिक दशा धीरे-धीरे अच्छे के लिए बदली कि बुरे के लिए, दोनों का रूप-रंग निखर कर कहाँ चला गया, या क्या हुआ; कितने रोग आए, शोक आए, हर्ष आए अभ्युदय आए,—शिशिर आए, बसन्त आए! किस पहलू पर ज़ोर दिया जाय, किस दृष्टिकोण से देखा जाय? क्या कहा जाय, क्या छिपाया जाय? यह तो इस दंपति के गृहस्थ की कहानी नहीं, यह कथा तो एक दूसरी ही कथा है। इसके लिए इतिहास पढ़िए, दर्शन पढ़िए, ज्ञान-विज्ञान देखिए। हाँ, तो समय-समय पर वह सब कुछ होता रहा।

पर पार्वती के पुत्रशोक की बात लिखनी ही पड़ेगी। बीस-

बाईस साल के लड़के का मस्तिष्क ख़राब हो गया और अन्त में यक्ष्मा का शिकार बन परलोकवासी बन गया। पार्वती ने उसके लिए जितने आँसू बहाए उतनी रोगी की सेवा नहीं की। पागल लड़का मनुष्य तो समझा नहीं जाता। उसकी ओर से ध्यान वैसे ही खिंच जाता है। वह तो दैवी प्रकोप की बात है; दुःसाध्य, उसमें किसी का क्या वश ? और यक्ष्मा का रोग भी तो काल ही का निमंत्रण है। रोगी तो पहले ही मरा समझ लिया जाता है। विदेशी दवाओं के लिए वैद्य एकदम नाहीं भरते हैं। और साधारण स्थिति के डाकख़ाने के बाबू के लड़के के लिए बहुमूल्य रसादि दवाएँ भी कहाँ तक ख़र्च की जा सकती हैं। सैनेटोरियम और स्वच्छ जलवायु के स्वप्न देखना भी ऐसे लोगों के लिए संगत नहीं। तिस पर भी लड़का पागल ठहरा ! भई, सच्ची बात है, मृत्यु की चापलूसी करने से क्या फ़ायदा ? सभी लोग भीतर ही भीतर ठीक बात अच्छी तरह समझते हैं। क्या किया जाय सब तरह से लाचारी ही लाचारी थी। आँसू बहाने में मातृ-हृदय ने किसी प्रकार की कमी नहीं रक्खी। धीरे-धीरे समय ने कब बिचारी के हृदय का घाव किस तरह भर दिया इसे कोई नहीं जानता। बाहर से तो ये गूँगे दंपति दुरुस्त ही दीखते हैं। भीतर अब भी छिपी हुई कसक हो कौन जाने ? शादी के बाद प्रसूत-बाधा से एक लड़की भी पार्वती की जाती रही। जन्म-मृत्यु किसके हाथ में है ? अब उसके लिए दो लड़के और एक लड़की रह गए हैं।

बड़े लड़के ने स्कूल लीविंग के बाद पिता के पद का अनुसरण कर लिया। पिता को अब पैंशन हो गई है। लड़के की शादी अच्छे घर हुई, पर स्त्री रुग्ण ही रहती है। सुनता हूँ, दो तीन बच्चों की मा भी बन गई है। कोई कहते हैं कि ग़रीबों के लिए स्त्री-प्रसंग ही एकमात्र मनोरञ्जन रह जाता है; संभव है। पर पुत्र ने भी स्त्री के बारे में सोलहो आने पिता का स्वभाव पाया है। पार्वती दूसरी कन्या का विवाह भी संपन्न कर चुकी है। छोटा पुत्र जो अभी विद्यार्थी ही है मा के पास रहता है।

पार्वती के स्वामी का बुढ़ापा मैं ठीक-ठीक न लिख सकूँगा। कला को उससे शायद ही सहानुभूति हो सके, उसकी आलोचना कर सकता हूँ। उनके मन में सन्तान के लिए रत्ती भर अनुराग देखने को नहीं मिलता। पत्नी के बाद उनके हृदय में धन-संग्रह करने की इच्छा ने घर कर लिया है, बुढ़ापे के साथ-साथ यह रोग और भी बढ़ रहा है। वह अँगूठे को तर्जनी से रगड़ते हुए सांके-तिक भाषा में सब पर यही प्रकट करते हैं कि रुपयों के बिना कुछ नहीं होता, रुपयों का बड़ा अभाव है। दूसरों के बारे में भी वह केवल उनकी माली-हालत जानना पसंद करते हैं। अपने छोटे से वेतन में उन्होंने थोड़ा बहुत अवश्य संचय कर लिया है।

दूसरों के सामने पार्वती के पति अपने को सदैव रुग्ण, निःशक्त, निकम्मा एवं दयनीय दिखलाया करते हैं। जैसे वह सीधे-सादे, कुछ न समझने वाले, अबोध एवं इस जटिल संसार में जीवन-यापन

करने के लिए एकदम अयोग्य और अक्षय हों। इस प्रकार वह दूसरों की सहानुभूति भी अर्जन करने का शौक़ रखते हैं।

वे सदैव स्वस्थ अवस्था में भी रोगी से बने रहते हैं। उठने-बैठने में कराहना, आँखो में याचना का भाव भर लेना, मुख सिकोड़कर उसे झुर्रियों की जाली में छिपा लेना, यह उनका बुढ़ापे का अभिनय है। इस प्रकार का दिखावा और स्वांग पार्वती को भी अब बहुत देखना और सहना पड़ता है। इसी के बहाने वह उससे अब छोटी से छोटी सेवा और काम करवा लेते हैं। संभव है युवावस्था के उनके गूँगे प्रेम की ऐसी ही अपाहिज परिणति हुई हो।

पार्वती ने उनके प्रेम और धन-संचय के भाव को अपना लिया है। पति के प्रेम पर वह मुग्ध है, उनकी ज्यादतियों और दुर्बलताओं के प्रति अनजान, पर संभव है यह उसका व्यवहार का चित्र हो, भीतर ही भीतर वह उन पर खीझती, ऊबती हो। किन्तु अपने पति के प्रेम-प्रदर्शन से उसे कभी तृप्ति नहीं होती। जब कभी उसके पति उसका नाम लेकर, या बेटे-बेटी को संबोधनकर उसे पुकार लगाते, अथवा औरतों के गिरोह की परवाह न कर उसके पास जाकर खड़े हो जाते, अथवा घर का काज करते समय उसका पल्ला पकड़े रहते—जैसा कि बुढ़ापे में, पैंशन पाने के बाद, उनका अभ्यास हो गया है, तब पार्वती लाज, संकोच, खीझ, ऊब का अभिनय करती हुई भी भीतर ही भीतर उनकी उस

अनुरक्ति का उपयोग करती देखी गई है। वह उनसे उलाहने के स्वर में कहती—मेरे साथ साथ क्या फिर रहे हो, कोई काग़ज़ या अख़बार हाथ में क्यों नहीं लेते। या अपने लड़के से कहती—गिरीन्द्र, बेटा, जरा इनसे कह तो दे सही कि काग़ज़ बाँचें, ज़रा घूमें-फिरें, धूप का मुँह देखें, कह तो दे बेटा !

अभी हाल में पार्वती के स्वामी बीमार पड़ गए थे। रोग ने अचानक भयंकर रूप पकड़ लिया। पार्वती ने जिस लगन, साहस, और दिन-रात के अथक परिश्रम से उनकी सेवा-सुश्रूषा की वह अवर्णनीय है। काल से लड़कर जैसे उसने अपने स्वामी को फिर से लौटा लिया। पड़ोस के पढ़े-लिखों का कहना है कि अपने समाज में स्त्री की परवशता ही पार्वती के इस भगीरथ प्रयत्न का कारण है। पुत्र के लिए यह सेवा-परायणता की प्रवृत्ति उसकी कहाँ सो रही थी ? अतः उसे अधिक श्रेय नहीं देते। पर पढ़े-लिखे संदिग्ध जो रहते हैं ? पुराने लोग तो इसका कारण पार्वती की अनन्य पतिभक्ति ही बतलाते हैं, और इसके लिए उस सावित्री की प्रशंसा करते हैं। पार्वती को स्वयं उसका कारण ज्ञात नहीं। आश्चर्य उसे भी होता है कि पति को मृत्यु के मुख में देखकर उसके दीर्घ जीवन के परिश्रम से थके, गले बूढ़े अंगों में वैसी प्रबल शक्ति कहाँ से आ गई, नींद-भूख भी कहाँ खो गई ! जो कुछ भी हो, पति को जीवन-दान मिल गया, भगवान दया-निधान हैं।

बीमारी के बाद, कुछ बुढ़ापे के कारण भी, पार्वती के स्वामी की स्मृति बहुत क्षीण हो गई है। कभी-कभी भ्रान्त भी हो जाते हैं। स्वप्न को जाग्रत अवस्था की घटना समझने लगते हैं। आँखों में शक्ति-हीन चमक आ गई है। मस्तिष्क की नाड़ियों पर अधिकार खो रहे हैं। अब वे पार्वती के बिना क्षण भर नहीं रह सकते। वही मा है, वही मंत्री, वही सखी। पार्वती के स्वामी खुली हुई ग्राम्य हँसी हँसते हैं, हँसने में हाथ पर हाथ भी मारते हैं। उस हँसी ने अब भी उनका साथ नहीं छोड़ा है। उनमें एक प्रकार की रसिकता की मात्रा भी है। पार्वती को अब प्रायः उसका स्वाद मिला करता है। अब भी पार्वती का जीवन ही दंपति का जीवन है। पेंशन के बाद छोटी सी आर्थिक दशा में और भी कमी आ जाने के कारण बूढ़ी पार्वती पर घर के प्रबन्ध का भार और बढ़ गया है। वह स्वयं पानी खींचती, बरतन माँजती है। उसके सिर पर बात का गोला निकल आया है। कभी मैंने।उसे खिन्न, विरक्त, ऊबा-खीझा नहीं पाया। कष्टों के प्रति यह पुरुषार्थवादी विरक्ति उसकी श्लाघनीय है। अब भी स्वामी का मुसकुराते मुख से स्वागत करती है। वह आधार है, स्वामी चित्र; वह रूप, रेखा, रंग है, स्वामी मूर्ति। वह गृहस्थ की अस्थि का ढाँचा है, स्वामी, माँस पिण्ड, वह निद्रा है स्वामी स्वप्न, वह चेतना स्वामी अनुभूति।

उस रोज स्वामी के पास, सुबह के समय, पानी का लोटा रखते हुए पार्वती ने मधुर उपदेश के साथ कहा—

"लीजिए, हाथ-मुँह धो लीजिए। एक लोटा बदन में भी डाल लीजिए। ब्रह्मण का चोला ठहरा। कहा है, धन की शुद्धि दान से, देह की शुद्धि स्नान से।"

स्वामी ने जैसे सोते से जगकर पूछा—"क्या कहा ? धन की शुद्धि स्नान— ?"

पार्वती ने वात्सल्य भाव से दुहराकर, समझाते हुए कहा—"हाँ, हाँ, धन की शुद्धि......स्नान से।" उसके स्वामी ने फिर से उस वाक्य को दुहराया, और साश्चार्य मुग्ध-दृष्टि से, सिर हिलाते हुए, बार-बार उसकी नीतिमत्ता और बुद्धि की प्रशंसा की—"वाह, तुम बहुत ही होशियार हो।"

पार्वती ने आत्म-प्रशंसा से बचने के लिए मधुर विरक्ति से उत्तर दिया,—ऊँह "मुझसे कैसी-कैसी होशियार औरतें हैं।"

स्वामी ने आश्चर्य से आँखें फाड़कर कहा—"अच्छा ? मैंने तो शहर और गाँव में तुम्हारी तरह होशियार किसी को नहीं देखा।"

पार्वती ने प्रसन्न होकर विरोध किया—"तुमने और किसी की ओर देखा भी।"

संभव है पार्वती के स्वामी ने केवल रसिकता-वश वह नाटकीय कथोपकथन गढ़ा हो जिससे पार्वती को आत्म-तुष्टि मिली।

बन्नू

(१)

स्वामी की मृत्यु के बाद सब तरह से आश्रयहीन हो जिस समय कामना अपनी दो साल की बच्ची को छाती से चिपकाकर अपने जेठ दीनानाथ के यहाँ पहुँची उस समय वृष्टि से धुले शरद के आकाश की क्रोड़ में दूज की कला मन्द मन्द मुसकुरा रही थी। दीनानाथ बाग़ में अपनी झोपड़ी की देहरी पर बैठा एक स्वच्छ भूरी रङ्ग की बछिया का गला सुहला रहा था। जान पड़ता था कि शरद की कोमल सन्ध्या ही उस पिङ्गल बछिया का रूप धर कर अपने काले, चिकने नयनों की तन्द्रिल चितवन उस पर डाले हुए उसके स्नेह का उपयोग करने झोपड़ी के द्वार पर आई हो।

यकायक सामने से एक अधेड़ स्त्री को अपनी ओर आते देखकर वृद्ध दीनानाथ उठने का उपक्रम करने लगा। कामना ने पास पहुँचकर बच्ची को उसकी गोद में रख दिया और उसके पाँव छूकर अपने स्वामी के स्वर्गवास की कथा कहते-कहते उन्हें आसुओं की झड़ी से धो डाला।

अपने भाई की अकाल मृत्यु का समाचार पाकर दीनानाथ के भी आँसू न रुके। उसने कामना को प्रबोध दिया और लड़की को घुटनों पर चढ़ाकर खिलाने लगा। लड़की उससे रत्ती भर

भी नहीं सहमी, और बात की बात में उस स्नेह में सुफ़ेद बुड्ढे से हिल गई। उस हँसमुख चाँद के टुकड़े पर रीझकर, सामने नवोदित दूज की कला को देख, दीनानाथ ने उस लड़की का नाम कला रख दिया।

(२)

दस साल पहले, पत्नी के स्वर्गवासी हो जाने के कारण, दीनानाथ संसार से विरक्त होकर घर से निकल आया था। वह चालीस पार कर चुका था, सन्तान-सुख से वंचित था, छोटे भाई की शादी हो ही गई थी, मुट्ठी भर खेती भी उसी को सौंपकर वह तीर्थ-यात्रा करने चला आया था। प्रायः सन्तान, स्त्री, सम्पत्ति ही वस्तु-जगत में मनुष्य को संसार से बाँधे रहती हैं।

दो एक साल साधुओं की सङ्गत में रह कर अन्त में वह गाँव से दस कोस दूरी पर कान्तार बन में एकलिंग स्वामी की सेवा में जीवन यापन करने लगा।

कान्तार एकलिंग शिव के मन्दिर के कारण चारों ओर प्रसिद्ध था, वह बहुत पुराना मन्दिर था, उसके पुजारी उसी के नाम से पुकारे जाते थे।

परिश्रमशील दीनानाथ अधिक समय तक निष्क्रिय, निश्चेष्ट जीवन व्यतीत न कर सका, पत्नी का वियोग-दुख कम हो जानेपर उसे मालूम पड़ने लगा जैसे मिलन-बिछोह, मोह-ममता, सुख-दुख

के संसार से कटकर इस प्रकार विरक्त और तटस्थ हो काल-यापन करने से उसके भीतर शान्ति के बदले सूनापन आ रहा है। प्रकृति ममत्व की जिस इकाई को देकर मनुष्य को जीवन-संग्राम के लिए अग्रसर करती है, उस इकाई का त्यागकर सुख-शान्ति ग्रहण करने की कल्पना उसे ठीक नहीं जान पड़ी। वास्तविक-अभाव की पूर्ति न कर काल्पनिक भाव में रहना उसने पसन्द नहीं किया। उसे मालूम पड़ने लगा कि अनेक प्रकार के धार्मिक, नैतिक सत्य, आचार-व्यवहार के नियम-बन्धन, जिनकी चर्चा उसे अब नित्य सुनने को मिलती थी, उसी मोह-ममत्व के संसार को स्थित एवं सुव्यवस्थित रखने के लिए बनाए गए हैं। वे जैसे अन्तःस्तल की भूमि में दिए हुए कन्द-मूल मात्र हैं। बाहर का क्रियाशील, सुख-दुख की शाखा-प्रशाखाओं से पूर्ण जीवन ही उनका वास्तविक स्वरूप है। तीर्थ के लिए आए हुए अनेक तरह के स्त्री-पुरुषों के संपर्क में आने से उसकी यह धारणा और भी दृढ़ होती गई। उसे अपने गाँव, घर और खेतों की याद आती, पड़ोसियों के मैत्री-कलह, दैनिक जीवन के घात-प्रतिघात, भाई का स्नेह, उसके गाय-बैल और बछड़े आँखों के सामने खड़े हो जाते, खेतों की लहराती हुई हरियाली उसे अपनी ओर खींचती—उन सब में जैसे उसी का व्यक्तित्व मिला था, उन सब के द्वारा वह जैसे अपनी सृजन-शील आत्मा की प्रवृत्तियों का, अपनी शक्तियों का परिचय पाकर सुखी होता था। फलतः उसने धीरे-धीरे कान्तार का एक बड़ा-सा

भाग साफ़ कर डाला और उसमें बारी-बारी से आम, सन्तरा, नींबू, लोची, अमरूद, कटहल, केले आदि के पेड़ लगाना शुरू कर दिया। बाग़ के बीच में उसने अपने लिए एक छोटी सी झोपड़ी भी बना ली, जिसके सामने गेंदा, चमेली, बेला आदि के पौधे, और आसपास मौलसिरी, हरसिंगार, कचनार आदि के वृक्ष लगा दिए।

खाना-पीना उसका एकलिंग स्वामी के पास से हो जाता था, मन्दिर में पर्याप्त चढ़ावा चढ़ता था, दिन-रात दूर-पास के यात्री आते-जाते रहते थे, साल में दो बार मेला भी लगता था। कुछ ही सालों में दीनानाथ का बाग़ फूलने-फलने लगा। और धीरे-धीरे उसमें यात्रियों के ठहरने के लिए इधर-उधर अनेक छोटी-मोटी झोपड़ियाँ भी पड़ गईं। पत्र-पुष्प, फल-तोय से अतिथियों को सेवा कर दीनानाथ सन्तुष्ट रहने लगा। यात्रियों की सुविधा के लिए उसने एकलिंग स्वामी से दो-एक गायें भी लेकर पाल ली थीं। इस प्रकार पेड़-पौधों, पशु-पक्षी और आने-जानेवाले बटोहियों की सेवा में पन्द्रह साल और व्यतीत कर वह अपनी सेवावृत्ति के लिए चारों ओर प्रसिद्ध हो चुका था। उसका भाई भी इस बीच कई बार आकर उससे मिल गया था। पर आज अचानक उसके मृत्यु-समाचार ने आकर वृद्ध के मन में अपने पुराने जीवन, गाँव और गृह की याद को फिर से जाग्रत कर अपने भाई की उस छोटी-सी स्मृति कला के प्रति उसके हृदय को मोह-ममता से पूर्ण कर दिया था।

(३)

कला, शुक्लपक्ष की कला की तरह, दीनानाथ की देख-रेख में बढ़ने लगी, कामना का समय भी तीर्थ-यात्रियों की सेवा और भजन-पूजन में निश्चिन्त रूप से व्यतीत होने लगा। कला के आने से उस वृद्ध की झोपड़ी में चन्द्रोदय हो गया, गृहिणी के हाथों के स्पर्श से घर की सुव्यवस्था, स्वच्छता और सुप्रबन्ध में सजीवता आ गई। गायें मोटी, चिकनी और स्वच्छ हो गईं, फुलवाड़ी के पौधे हरे-भरे और लहलहे होकर फूलों से लद गए।

कान्तार और बाग़ के बीच एक छोटी-सी जल-धारा बहती थी, जिसे रेवती कहते थे। रेवती के ऊपर छोटी-सी कच्ची पुलिया बनी थी। उसी से केवल आने-जाने का रास्ता था। पुलिया की लकड़ियाँ दीनानाथ बदलता रहता था, वे पानी से काली पड़ जाती थीं, बरसात में उनमें हरी-हरी काई जम जाती, और थोड़ी-सी फिसलन भी पैदा हो जाती थी।

कान्तार के उत्तुङ्ग, निर्भीक वृक्ष महाशून्य की ओर विशाल बाहों की तरह अपनी शाखाएँ फैलाए मानो आकाश के गौरव की स्पर्धा करते थे। बाग़ के हरे-भरे पेड़ फल और फूलों के भार से विनत हो मानों पृथ्वी से मिलने को झुक-झुक पड़ते थे। वे जैसे स्वर्ग से वरदान पाने के अजस्र प्रार्थी थे, ये पृथ्वी को दान देने के निरन्तर अभिलाषी। कान्तार के घने पत्रों की साँय-साँय में बन की विषण्ण, निश्चेष्ट वायु का सूनापन, और काँपते हुए छाया-

प्रकाश में उस विराट वन की निष्क्रिय, निष्फल आत्मा अपने ही भय और शंका से सिहर उठती थी; बाग़ के पेड़ों की टहनियों पर पक्षियों का मधुर कलरव, पुष्पों पर भवरों की गूँज बाटिका के सफल सक्रिय जीवन में संगीत और रस की सृष्टि करते थे। वहाँ एकलिंग के मन्दिर का शंख-नाद चारों ओर दिशाओं में कम्पन पैदा करता, वहाँ कला का वीणा-विनिन्दक स्वर उस छोटी-सी झोपड़ी के भीतर मधुरता बरसाता था। एक प्रकृति का विशाल, विशृङ्खल क्रीड़ा स्थल था दूसरा मनुष्य के हाथों से सँवारा हुआ छोटा-सा आँगन।

कला इसी आँगन में खेल-कूद कर बड़ी हुई थी। बसन्त के सुन्दर फूल उसके साथी थे, वर्षा ऋतु के उड़ते हुए मेघ उसकी बाल-भावनाओं की तरह अनेक आकार-प्रकार धारण कर उसका मन बहलाते थे। शरद की उज्ज्वल, स्वप्नमयी चाँदनी और पूस के कोमल दिनमानो से उसका एक अज्ञात, गूढ़ साहचर्य था, उसकी कल्पना चुपचाप उनमें मिल जाती थी। ग्रीष्म की अलसाई-दोपहर और हेमन्त की लम्बी उनींदी रातों के साथ-साथ बढ़कर अब वह यौवन की पहली सीढ़ी पर पाँव रख चुकी थी। उसकी मा ने उसे गृह के छोटे-मोटे कामों में दक्ष बना दिया था। कण्व के तपोवन की शकुन्तला की तरह वह रेवती के जल से वृक्षों के आलबाल भरती, पूजा के लिये फूलों की मालायें गूँथती, और दीना के अतिथियों का स्वागत-सत्कार एवं सेवा करती। वह पढ़ना-लिखना

नहीं जानती थी, पर भले-बुरे को पहचानती थी। गेंदा, गुलदावदी, बेला, जूही की तरह वह वस्तुओं का मूल्य उनके आकार-प्रकार रूप-रंग से, मनुष्यों का मूल्य उनके हाव-भाव चेष्टाओं द्वारा आँक लेती थी। दीनानाथ के यहाँ सभी स्वभाव, सभी अवस्थाओं के यात्री आकर ठहरते थे, कला स्वभावतः उनके गुण-दोषों को जान लेती थी। उसके विचार-बुद्धि न थी, सहज बुद्धि थी। संक्षेप में वह सहज सुन्दर परिस्थितियों की सहज सुन्दर सृष्टि थी।

(४)

कान्तार में मन्दिर से कुछ दूर एकलिंग स्वामी का निवास था। वह इस समय अत्यन्त जीर्णावस्था में था। उसका एक भाग गिर गया था, पर दूसरा भाग रहने योग्य था, और सब तरह से साफ़-सुथरा रक्खा जाता था। चारों ओर एक छोटा-सा बग़ीचा था जिसकी देख-रेख न हो सकने के कारण उसमें झाड़-झंखाड़ और बनैले पेड़ उग आए थे। बीच की पुष्करिणी की हालत भी अच्छी न थी, बरसात में उसमें पानी भर जाता, गर्मियों में वह प्रायः सूख जाती, और महीनों में उसमें मच्छरों से गूँजती हुई काई जमी रहती।

एकलिंग स्वामी वृद्ध हो चले थे। वे बाल-ब्रह्मचारी, उद्भट विद्वान, धर्म और नीति के ज्ञाता तथा सौजन्य की प्रतिमूर्ति थे। उनके मुख-मंडल पर कान्ति विराजमान रहती, आँखों में तेज़;

उनके काँस-गुच्छ के सामान सुफ़ेद दाढ़ी-मूछों और सिर के बालों ने उनकी मुखाकृति को और भी शारद, प्रशान्त और दर्शनीय बना दिया था। अपना समस्त जीवन इसी निःसंग, निर्जन वन में व्यतीत कर वह वन ही की तरह गम्भीर, गहन एवं शून्य हो गए थे। उनका शिष्य विनोदानन्द, जिसका व्यक्तित्व बन्नू शब्द से अधिक स्पष्ट होता था—जो उसके सम्बोधन का नाम था—उनके भावी पद का अधिकारी था। दस साल की उम्र में उसके मा-बाप उसे एकलिंग भगवान की सेवा में समर्पित कर गए थे। गुरु ने उसे दीक्षा देकर नवीन रूप से उसका नामकरण किया। अब वह पच्चीस साल का हो चुका था और गुरु की कृपा से धर्म, शास्त्र, वेदान्त, नीति, दर्शन सभी में पारंगत हो चुका था।

विनोदानन्द के स्वभाव में विनोद कभी प्रवेश न कर पाया था। समस्त वन की विषण्ण निर्विकार क्रिया-शून्य स्वच्छंन्द आत्मा—उसका स्वप्न-पूर्ण, सशंक, रहस्यमय छायालोक—उसके निर्भीक, बलिष्ट, विविध रूप के वृक्षों का मौन साहचर्य—उस विशाल, भयावह, जनहीन एकान्त का गम्भीर अभेद्य वैचित्र्य किसी प्रबल झंझा के झोकों से शब्दायमान होकर जैसे उस बन्नू शब्द में सजीव एवं सकार हो गया था। वन की घनी छाया के रंग का उसका श्यामल वर्ण, विटप स्कन्धों से सशक्त मांसल अङ्ग, पेशल-हरीतिमा सा भरा हुआ गोल आनन, कृष्ण, ओज-स्निग्ध नयन, भय-शून्य दृष्टि, मत्त गति—सभी कुछ वन की कला के प्रतिरूप था।

वह वन के छाया-गम्भीर विषाद से अपने मन को भर कर अपने को भूला रहता था। कभी-कभी नीचे के बदन में मृग-चर्म और उत्तराङ्ग में बाघ की छाल लपेटे वह वन्य मृगों और नील-गायों के पीछे दौड़ कर उन्हें भयभीत किया करता था। और उन्हें पूँछ उठा कर आत्मविस्मृत हो भागते हुए देख कर अपने घन-घोष अट्टहास से कान्तार के एकान्त मौन को कम्पित कर देता था।

कामना व्रत के दिनों में एकलिंग के दर्शन करने कान्तार में प्रायः जाया करती थी। आज भी तीसरे पहर के समय हाथ में पूजा का थाल लिये कन्या के साथ-साथ उसने मन्दिर में प्रवेश किया। कला का जी अन्दर नहीं लगा, वह वन की शोभा देखने बाहर चली आई। वास्तव में आज कान्तार की शोभा दर्शनीय थी। वसन्तागम से पेड़ों में रुपहले, सुनहले, हरे, नीले सिन्दूरी रंग के नये-नये कोंपल और पत्ते निकल आये थे। इधर-उधर अमलतास, कचनार, सिरिस, मदार, और नीम के फूलों ने अनेक वर्णों की श्री का इन्द्रजाल फैलाया था। वन्य पुष्पों की उन्मत्त सौरभ से वायु झूम रहा था। आज किसी अज्ञात स्पर्श से जैसे कान्तार में नवीन जीवन का संचार हो उठा। पलास की ज्वाला में मानो उसकी चिरसुप्त कामनायें सुलग उठी थीं, और कोकिल की पंचम कूक रह रह कर उसकी शून्य आत्मा में सक्रिय कल्पनाओं की कम्पन एवं आवेश पैदा कर देती थी। प्रकृति

के गूढ़ रहस्यों की वह विराट सौन्दर्य-भूमि आज नववसन्त की उद्दाम आकांक्षाओं से उद्वेलित हो उठी थी।

नीम के एक बड़े से बड़े पेड़ की छाया में बन्नू उस समय कुहुनी, हथेली और सिर का तिकोन बनाये, लेटे-लेटे किसी अज्ञात स्वप्न-लोक में विचर रहा था। वन की आत्मा उसके जीवन को भी संचालित करती थी। कान्तार का नवीन जीवन-सौन्दर्य उसके भीतर प्रवेश कर अन्तस्तल में अनेक अस्पष्ट, आकुल, अपूर्व भावनाओं की सृष्टि कर रहा था। उनमें न रूप था न अर्थ, केवल अनुभूति थी, संवेदना थी। शीतोष्ण अनिल के कोमल स्पर्शों से उसके अङ्गों में बार बार मधुर-वेदना जग उठती थी। पृथ्वी से एक अनजान आकांक्षा निकल कर, उसकी टाँगों से ऊपर को प्रवेश कर, उस अनभिज्ञ युवक की आत्मा को अपनी कोमल, ऊष्ण, मधुर पूर्व-स्मृति में, अज्ञेय अनुभूति में लेपेट लेती थी; उसके अंगों में स्वास्थ्य की मादकता भर जाती, उसके मुख में रस का स्रोत फूट पड़ता था। उस मधुर अशान्ति का रहस्य उसकी समझ में कुछ भी न आता था, वह चुपचाप जैसे उसी में आविष्ट हो गया था।

जिस समय कला की चंचल दृष्टि बन्नू की ओर फिरी उस समय उसके सिरहाने की ओर से एक लम्बा, मोटा, काला चित-कबरा साँप लहर की तरह टेढ़ी-मेढ़ी क्षिप्र-गति से उसकी ओर जा रहा था। उसको मूर्तिमान भयंकरता देख कर, कला के हृदय को

चीर कर, अचानक एक ज़ोर की चीख़ निकल पड़ी। हठात् स्वप्न से जग कर उस युवती की भयभीत दृष्टि का अनुसरण करते ही बन्नू ने भी उस सर्प को देख लिया। वह बांये हाथ के बल पर उठ कर उसी तरह निर्भय होकर वहाँ बैठा रहा; साँप चुपके से उसके पास से होकर निकल गया। उस सुन्दर निर्भीक युवक की ओर दृष्टि गड़ाये, कला, विस्मय से अवाक् हो, आत्मविस्मृत-सी, वहीं खड़ी रह गई। बन्नू की वलिष्ट देह, अदोष अङ्गों की गोलाई, तैलाक्त वर्ण, स्वस्थ सौन्दर्य, अकृत्रिम स्वरूप, कान्तिमान मुख एवं निर्दोष दृष्टि ने जैसे उसे अज्ञात रूप से बरबस अपनी ओर खींचना शुरू किया। बन्नू की विजय-स्मित दृष्टि जब उस नवयुवती के विस्मित मुख पर पड़ी तो वह उस चित्रस्थ सौन्दर्य की प्रतिमा को देखता ही रह गया। कला की सुन्दर आँखें विस्मय से विकसित हो उठी थीं, उसकी समस्त आत्मा जैसे चितवन ही चितवन बन गयी थी। उसके नये पल्लवों से अधर आधे खुल गये थे; उनके भीतर से बारीक दन्त रेखा सेम्हर के फूल से रुई की तरह झलक रही थी, मुख भय से गुलाब की तरह लाल हो उठा था। उसका बायाँ पाँव आगे की ओर बढ़ा था, और दायाँ हाथ छाती तक उठ कर, सीप के संपुट की तरह, वहीं रुक गया था। वह गुलाबी रंग की धोती पहने थी, हरे रंग की सादी कुरती। बन्नू को ऐसा मालूम होने लगा कि वसन्त के समस्त सौन्दर्य का, मलयानिल के कोमल स्पर्शों का, कोकिल की व्याकुल

वाणी का, नवीन पल्लवों के विविध रङ्गो का, उसकी अस्पष्ट भावनाओं और मधुर अशान्ति का जैसे यही तात्पर्य, यही सन्देश और यही सार है। उस तरुणी के दर्पण में जैसे उसे अपना अदृष्ट अन्तर-जगत स्पष्ट रूप से प्रतिबिम्बित दिखाई दिया। भाव रूप का आश्रय ग्रहण कर चरितार्थ हो गया, अर्थ शब्द के मिल जाने से अभिव्यक्त हो उठा।

पूजा समाप्त कर कामना लड़की की खोज में वहाँ पहुँच गयी थी। बन्नू ने आत्मस्थ होकर उसे प्रणाम किया। कला अन्यमनस्क हो मा के साथ घर को चली गई।

(५)

मनोविज्ञान के अनुसार मन तीन वस्तुओं से निर्मित है बुद्धि, राग, और संकल्प अथवा ज्ञान भावना और कार्य-प्रेरणा बन्नू का केवल ज्ञान-कोष विकसित था, उसका रागतत्व एक प्रकार से सुप्त ही था; छुटपन से वह वैसी ही परिस्थितियों में रहा था। आज जब कि कान्तार की समस्त शिराओं में वसन्त का तरुण रक्त प्रधावित हो रहा था, जब शिशिर की सूखी डालियाँ नवीन यौवन के पल्लवों से मांसल हो उठी थीं, एक संवेदना-शील नव-युवती के पवित्र सम्पर्क एवं मधुर रूप-राशि ने उसकी चिर-निर्जीव भावनाओं को जाग्रत तथा प्रज्वलित कर दिया था।

वस्तुओं की क्षण-भंगुरता, एवं जीवन की निस्सारता का

आधार लेकर जो ज्ञान उसे संसार को मिथ्या बतलाता आया है वही ज्ञान जैसे आज भावना की शक्ति से सार्थक हो उसे वस्तुओं की अमरणशीलता, जीवन की सारता और संसार के नित्य होने का सन्देश सुनाने लगा, आत्मा और शरीर, जन्म और मरण निःसीम और असीम जैसे अपना विरोध खोकर भावना के एक ही पाश में बँध कर अभिन्न और अखण्ड हो गए हैं। आज सारा कान्तार उसके भीतर समा गया। उसके समस्त छोटे-बड़े, विविध आकार प्रकार के पेड़-पौधे, परस्पर गुँथी हुई शाखा-प्रशाखायें, लता-कुंज, फूल-पत्ते अपना अस्तित्व खोकर एक विराट आत्मा में विलीन हो अविराम सृजन-सौन्दर्य में बदल गए हैं। यह अनेक रूप-रंग, पुष्प-पल्लव, तृण-तरुओं में व्याप्त सत्य ही जैसे अमर सत्य है शेष सब इसका अभाव है। अनादि काल से अनन्त शिशिर और पतझड़ों पर हँसते हुए, रूप-रंग भरते हुए, जीवन के वसन्त ने आज जैसे उसके हृदय में अपना अपरिवर्तनशील, भावात्मक रूप उद्भासित कर दिया। यही चिरन्तन सत्य बट के विशाल वृक्ष को एक छोटे से बीज में भर कर, उस क्षुद्र बीज को फिर से महान आकार में परिणत कर देता है।

अनेक प्रकार के त्याग-विराग, साधना-संयम, जप-तप, नीति-रीतियों के, नियम-बन्धनों के सहारे हम जिस सत्य को ग्रहण करने का असम्भव, निष्फल प्रयत्न करते आए हैं, वही अज्ञेय, अग्रहणीय सत्य जैसे अनन्त अनुराग, आनन्द, सुख, सौन्दर्य,

लीला, नृत्य, आशा, आकांक्षा, रूप-रङ्गों द्वारा अपने को सृष्टि के चिरन्तन बन्धनों में बाँध रहा है। आत्मा अपने को रूप के लिए फिर फिर बलिदान कर रही है। हमारे दर्शनों ने सत्य के जिस महाभाव का हमें बोध कराया है हमने उसे न समझ सकने के कारण उस महाभाव को अभाव और शून्य में घटित कर दिया है। ज्ञान का निष्क्रिय प्रयोग कर हमने निःसीम को ससीम से, भाव को रूप से विछिन्न कर उन्हें भिन्न मान लिया है। ज्ञान के सक्रिय-प्रयोग द्वारा हम उस महाभाव का नाम रूप में, निःसीम का ससीम में साक्षात् नहीं कर पाये हैं।

आज कान्तार की अपार वसन्त-श्री एक क्षुद्र तरुणी को सरल मधुर मूर्ति बनकर बन्नू के हृदय में सदैव के लिए नवीन रूप से प्रतिष्ठित हो गई। सृष्टि का समस्त तात्पर्य उसके सामने मूर्ति धर स्पष्ट हो गया। उसका निःसीम ससीम में साकार हो गया। वह मन ही मन सोचने लगा—आत्मा की मुक्ति जैसे माँस के सुन्दर कोमल बन्धनों में बँधकर चरितार्थ होती रहती है। भावना निरन्तर रूप में, विनाश-सृजन में, काल-क्षण में अभिव्यक्ति पाकर अपनी सम्पूर्णता, सार्थक करता रहता है।

(६)

कला सुबह के समय फुलवाड़ी में फूल बीनने गई थी। मा की पूजा के लिए फूल चुनना और ठाकुर जी के प्रसाद की माला बनाना उसका नित्य का काम था। वह फुलवाड़ी के बीच में पत्थर

के छोटे से चबूतरे पर बैठी जूही की माला गूँथ रही थी। आम के बौरों की सुगन्ध से सारा बाग़ महक रहा था। पक्षी कलरव कर रहे थे। प्रभात की कोमल स्वर्ण आभा उसके सुन्दर अरुण मुख पर पड़ कर उसी में लीन हो गई थी। उसके माथे से धोती खिसक गई थी, और दो-एक लटें जूड़े से निकल कर चार वायु में दौड़ रही थीं। उसके अन्तस्तल में भी रह रह कर एक अज्ञात लहर-सी दौड़ पड़ती थी। अपनी उस चंचल भावना का रहस्य उसे मालूम न था, पर उसके हृदय में वही सब से वेगवती थी, उसमें एक तीव्रता और व्याकुलता मिली थी। कला के मन का संसार केवल थोड़ी-सी किशोर स्मृतियों का बना था। उसके बाबा का मधुर व्यवहार, मा का लाड़-प्यार, तीर्थ-यात्रियों के कुछ क्षीणसंस्मरण, आस-पास के कुछ पेड़, फुलवाड़ी के फूल-पौधे, कुछ चिड़ियों की बोलियाँ, काली-धौली गाय, मुन्नी बछिया और उसका प्यारा हिरनौटा कानू। इन्हीं के सम्बन्ध की कुछ मधुर बातें, कुछ आकार-प्रकार, कुछ रूप-रङ्ग, कुछ वार्तालाप, कुछ सुखद-दुखद भावनायें उसके भीतर बार-बार घूम-फिर कर उदय और अस्त होती रहती थीं। पर पिछली साँप वाली घटना के बाद उसके अन्तःकरण में एक अज्ञात भय, अननुभूत आकुलता उठती रहती थी। जैसे उस भयंकर सर्प ने उसके भीतर घुसकर एक अचिन्त्य, सुप्त आवेश को जाग्रत कर दिया हो, चिर-विस्मृति के आवरण को चीर कर एक अवश-प्रवृत्ति के लिए हृदय में बिल बना दिया हो।

बन्नू को उसने शायद और भी कई बार संयोगवश देखा था। पर उस दिन का उसका विजय-दीप्त आनन, बलिष्ठ, सुगठित शरीर और सर्वोपरि उसके निर्भीक अन्तःकरण की छाप कला के कोमल, भीरु हृदय में अंकित हो गई थी। उसके अन्तःस्तल की समस्त स्मृतियों में उस दिन की स्मृति जैसे सबसे प्रधान, सबसे स्पष्ट और सबसे अधिक अपनी बन गई थी। उस स्मृति की छाया सबसे मनोरम रूप धर कर उसके ध्यान को बरबस अपनी ओर आकर्षित कर लेती थी।

कानू ने दौड़ते हुए आकर अपनी सखी को मानो एक ही छलाँग में भीतर के संसार से बाहर के संसार में लाकर आसीन कर दिया। अरुई के कोमल अंकुरों के समान अपने छोटे-छोटे नए सींघों से वह कला के पैर सुहलाने लगा। अपने प्यारे साथी को अपने ही पास पा कर कला ने मन्त्रमुग्ध की तरह हाथ की माला उसके गले में डाल कर उसे छाती से चिपका लिया। कानू उस प्यार की अतिशयता के कारण घबड़ा उठा।

फूलों के लिए देर तक लड़की की प्रतीक्षा करने के बाद कामना उसकी खोज में जब फुलवाड़ी के पास पहुँची तो उसके मन से कन्या के इस आवेशपूर्ण एकान्त-मिलन का मर्म छिपा न रहा। एक अन्तः प्रेरणा ने उसके भीतर चुपचाप लड़की की अज्ञात मनोदशा का रहस्य खोल दिया। कामना ने गहरी साँस ली, उसका हृदय लड़की के प्रति ममता से भर गया। वह वहीं से

उलटे पाँव लौट गई। राह में कुछ फूल बीन कर उसने आकुल हृदय से ठाकुर जी पर चढ़ाए और देर तक उन्हें भक्ति पूर्वक प्रणाम करती रही।

कामना ने दूसरे दिन अवकाश ढूँढ़ कर दीनानाथ से कला के विवाह की चर्चा की। वृद्ध को यद्यपि स्वयं इसकी चिन्ता थी पर उसने कामना को धीरज देने के लिए संयोग एवं नियत घड़ी के उपस्थित होने की प्रतीक्षा करने को कहा। 'विवाहं जन्म-मरणं' पर उसका विश्वास था।

(७)

वसन्त के बाद निदाघ चला गया, वर्षा ऋतु भी आधी से अधिक बीत गई है। मौलसिरी, गिरगिट्टी, एवं करौंदे की मादक सुगन्ध से बरसात का वाष्पाकुल वायु और भी अधीर हो उठा है। पेड़ की डाल पर बैठा पपीहा बार-बार मर्म-भेदी स्वर में पूछ रहा है—पी कहाँ? साँझ का सुहावना समय है, वृक्षों के अन्तराल से अस्तमित सूर्य की किरणों ने बाग़ में सोने का जाल बिछा दिया है। अपने निःसंग, एकाकी जीवन के साथी कानू की खोज में इधर-उधर घूमकर, कला अन्त में पपीहे को हृदय-स्पर्शी पुकार से विकल हो हरसिंगार के पेड़ के नीचे खड़ी, डाली का सहारा लिए, मानो उस विधुर, अनुभवशील पक्षी के प्रश्न का उत्तर सोचने में तल्लीन है। वह पक्षी जैसे उसी के

अन्तःस्तल में छिपी हुई उसकी अज्ञात, गूढ़, अजेय आकांक्षा है। उसका मन चुपचाप रेउती के कच्चे पुल को पार कर कान्तार-वन में पहुँच गया है। और एक स्वस्थ, सुन्दर, तरुण मूर्ति अपने आप उसके हृदय में उदय होकर उस पक्षी के प्रश्न का उत्तर बन जा रही है। इस बीच उसका कई बार उस मूर्ति से साक्षात् हो चुका है, फिर भी वह उसकी गुप्त मोहिनी विद्या का मर्म नहीं जान सकी है। अपने हृदय की इस सब से प्रबल, सब से उन्मादक प्रवृत्ति की इंगित को समझने में वह जैसे असमर्थ है।

कला धानी रंग की धोती पहने है। दौड़ने से उसका आँचल सरक गया है, जूड़ा खुलकर सावन की घनी नील मेघमाला की तरह वक्ष और कटि-प्रदेश में फैल गया है। पपीहे की पुकार से चंचल हो उसने हरसिंगार की डालों को हिलाकर ढेर-ढेर फूल अपने ऊपर बरसा लिए हैं। फूलों की मेंहदी लगी हथेलियाँ उसके कोमल करतलों से तुलना नहीं पा सकतीं, पर उनकी मादक सौरभ से उसके भावोच्छ्वासों का सादृश्य है। हरसिंगार के पुष्प झर-झर कर उसके केशों, कन्धों, उरोजों और पैरों के नीचे बिखर गए हैं, वह मानो पावस की देवी है।

अपनी भावनाओं के उद्रेक में तल्लीन हो कला भूल गई कि वह कानू की खोज में निकली है। उसका साथी तब तक भटकता हुआ बन में पहुँच गया था। जैसे वह भीतर ही भीतर समझता

हो कि उसकी प्यारी सखी को वास्तव में किसकी खोज है।
बन्नू उस समय बन और मिट्टी को भीनी गंध से भरे पावस
की सन्ध्या के भारी विषाद को मिटाने के लिए पुल के पास खुली
जगह में घूम रहा था। सहसा कानू को देखकर उसका उद्विग्न
हृदय जैसे उस हिरन के बच्चे से भी अधिक चपल हो उठा।
उस पावस के अवसाद में बन्नू का अपना अवसाद भी मिला
हुआ था। उसका जीवन कुछ समय से वन की आत्मा के वृन्त
से जंगली पुल की तरह विच्छिन्न हो चुका था। जिस त्याग,
विराग एवं अनासक्ति की सार्थकता केवल भोग की रागात्मक
प्रवृत्तियों से सामंजस्य प्राप्त करने में हो सकती है, अपने देश
की संस्कृति के मूल में पैठे हुए उस निष्काम त्याग को जीवन
का निरपेक्ष सत्य मान कर, उसकी भित्ति पर इन्द्रिय-निग्रह के
नियमों से निर्मित बन्नू का अब तक का जीवन जैसे सर्वभूतों
में व्याप्त नैसर्गिक प्रवृत्तियों से बनी हुई, प्राणियों के सहजात
संस्कारों से सँवारी हुई एक सरल बालिका के अस्तित्व के
आघात से चूर्ण-चूर्ण हो गया था। भाव ने शून्य पर, कला ने
प्राकृत पर विजय पाई थी। अपने और वन-देवता के बीच
अज्ञात रूप से आ जाने वाली उस देवी के चरणों में वह उस
छिन्नपुष्प को सदैव के लिए समर्पित कर कृतार्थ हो जाना
चाहता था।

बन्नू जानता था कि कानू किसका लाड़ला है। जब उस मृग-

छौने ने अपनी भीत चकित दृष्टि से उसकी ओर देखा तब बन्नू के अभ्यन्तर में जिस दूसरी ही स्तिमित, विस्मित दृष्टि ने उदित होकर उसका ध्यान बलपूर्वक अपनी ओर खींच लिया वही जैसे वास्तविक दृष्टि थी, यह दृष्टि उसकी उपमा, दूतिका, छाया थी। कानू के शरीर पर साँझ की स्वर्णाभा पड़ रही थी। एक बार ऐसे ही तो मायावी मृग से एक दानव का स्वरूप प्रकट हुआ था, पर इस बार इस चकित चितवन, चञ्चल ग्रीवा-भंगी, सुकुमार कृश अंगोंवाले मृग-शावक से जिस दिव्य सौन्दर्य-मूर्ति का आविर्भाव हुआ वह दानवी नहीं थी, मानवी भी न थी। वह स्वर्ग की देवी थी कि पंचवटी की पुण्य-स्मृति इसे समझने में बन्नू को देर न लगी।

उसके जड़ीभूत सशक्त टाँगों में इस छोटे से छौने ने अपनी छलाँगों का वेग भर दिया। बन्नू ने उसे पुचकार कर गोद में ले लिया, उसके पाँव अपने आप रेउती के पुल के उस पार को बढ़ने लगे। उसे पहुँचाने के बहाने मानो अपनी चंचल अबोध लालसा को, उस उद्धत हिरनौटे के स्वरूप में, अपनी देवी को भेंट करने के लिए वह धीरे धीरे बाग़ के अन्दर पहुँच गया।

मौलसिरी की आड़ से उसने देखा कि कला पास ही हर-सिंगार के पेड़ के नीचे खड़ी है। उसका हृदय किसी अज्ञात कारणवश वेग से धड़कने लगा, वह वहीं पर खड़ा रह गया। अभी-अभी उदित हुए, लालिमा से पूर्ण चंद्रमा की तरह कला

का मुख डालो के सहारे हथेली पर रक्खा हुआ था। पावस सन्ध्या के कोमल नील अँधियाले की तरह फैले हुए उसके सघन कुन्तलों में हरसिंगार के फूल छोटे-छोटे तारों के समान हँस रहे थे। बन्नू कला के इस समय के अपूर्व सौन्दर्य को मुग्ध, अतृप्त दृष्टि से देखता रह गया। वह आत्मा-विस्मृत की तरह, हिरन के बच्चे को छाती से चिपकाए, चुपचाप कब कला के पास पहुँच गया उसे यह स्वयं नहीं मालूम हो सका। कला को भी उसके आने का पता न चला। बन्नू एकटक उसके मुख की ओर देख रहा था, कला चुपचाप सिर झुकाए ध्यान में मग्न थी।

बाग़ से घर को लौटते हुए दीनानाथ ने आम के पेड़ों की अन्तराल से जब यह दृश्य देखा तो वृद्ध की आँखों में एक आनन्द नाचने लगा। उसने पीछे से आती हुई कामना को संकेत कर धीरे से कहा—'तुम्हारी लड़की के लिए वर मिल गया है।' कामना इस अपूर्व मिलन एवं चिर-इच्छित समाचार को अभिनय रूप से देख-सुन कर अवाक् रह गई। उसकी आँखों से हर्ष के आँसू टप्-टप् टपक पड़े।

कानू अधिक देर तक इस मौन व्यापार का साक्षी न रह सका। वह चंचल पशु यकायक बन्नू की गोद से कूद कर कला के सामने खड़ा हो गया, और उसकी ओर विजय एवं उल्लास की दृष्टि से देखने लगा। कला भी जैसे उसके साथ ही स्वर्ग से पृथ्वी पर आ पड़ी। अपने ध्यान के स्वर्ग के देवता को अपने सामने साक्षात्

खड़ा देख कर वह सिर से पाँव तक लज्जा और भय के ऊष्ण-शीतल झकोरों से लाल हो गई। बन्नू की मुग्ध-दृष्टि उसकी अपनी दृष्टि बनकर जैसे उसे देखने लगी। वह क्षण भर के लिए अपने में समा गई। हरसिंगार के पेड़ की तरह जैसे वह भी पृथ्वी में गड़ गई हो। आज उसे पहली बार जैसे अपने सौन्दर्य और यौवन की अनुभूति हुई।

सोलह वसन्त और सोलह शरद अब उसके जीवन में प्रवेश कर चुके थे। वसन्त ने उसके अंगों को सौन्दर्य, विकास और सौकुमार्य प्रदान किया था। शरद ने उसके स्वभाव को निर्मलता, स्निग्धता एवं पवित्रता दी थी। आकाश ने उसकी आँखों में नीलिमा, गुलाब ने गालों में लालिमा, पक्षियों ने वाणी में कलरव, पल्लवों ने अधरों में रंग, फूलों ने साँसो में सौरभ, शशि-किरणों ने दाँतों में मधुर हास भर दिया था। उसके कदंब के गेंद से उठे उरोज जुही की दो कोमल ढेरियाँ थे। उसकी बाँहों को लताओं ने आलिङ्गन की अभिलाषा से, अँगुलियों को पीपल ने रूपहली सुनहली कलियों से, जंघाओं को कदली ने अपने पीन लावण्य से निर्माण किया था। उसकी चंचल गति रेउती की लहरियों का नृत्य-संगीत थी। कला प्रकृति की सजीव कला थी।

वृक्षों के झुरमुट से कामना को आते देख कर बन्नू चुपचाप वहाँ से चला गया। मा ने पास आकर लड़की को छाती से लगा लिया और उसे अपने साथ घर लिवा ले गई।

(८)

कुछ समय तक दीनानाथ की बातों पर विचार करने पर एकलिंग स्वामी ने वृद्ध का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। दीनानाथ के सक्रिय जीवन के सत्य ने विजय पाई। एकलिंग के पुजारियों के आजन्म अविवाहित जीवन व्यतीत करने की प्रथा बदल गई। वन के शिव को घर की पार्वती मिल गई। त्याग और भोग, प्रवृत्ति और निवृत्ति परस्पर आलिंगन-पाश में बँध गए।

निष्क्रिय ज्ञान द्वारा आत्मा को, व्यक्ति को, प्रकृति के बन्धनों से मुक्त करने के बदले सक्रिय ज्ञान के सदुपयोग से मानवात्मा के लिए प्राकृतिक सत्यों के बन्धनों को सुव्यवस्थित, सार्वलौकिक स्वरूप देकर मनुष्य-जीवन की सामूहिक मुक्ति के लिए उद्योग करना कहीं श्रेयस्कर है—वृद्ध एकलिंग स्वामी के मन में यह भाव स्पष्ट हो गया था।

विवाह के बाद वर-वधू को आशीर्वाद देते हुए दीनानाथ ने कहा—'एक दिन यह सारा वन हरे-भरे, लहलहे फल-फूलों से लदे हुए बाग़ में बदल जाय, मनुष्य के बाहुओं का श्रम और प्रकृति की शक्तियाँ वर-वधू की तरह मिल कर संसार के पारिवारिक सुख और शान्ति के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहें—यही मेरी एकान्त कामना है।

एकलिंग स्वामी ने प्रसन्न होकर कहा—'तथास्तु।'

अवगुंठन

अब के एम० ए० की परीक्षा समाप्त कर जब रामकुमार घर आया, तो स्नेह-प्राण मा का एकान्त अनुरोध न टाल सका। अभी दो साल पीछे, अचानक हृद्रोग से पिता की मृत्यु हो जाने के कारण सन्तोष-मूर्ति मा के मर्म में जो चिरस्थायी घाव पड़ गया था, उसकी पीड़ा के चिह्नों को थोड़ा-बहुत मिटाने का एक-मात्र उपाय यही था, कि घर में एक नया चाँद का टुकड़ा आकर नई चाँदनी फैलाए। कुमार के पिता अपनी इकलौती सन्तान के लिए प्रचुर धन-सम्पत्ति छोड़ गए थे। केवल एक नवीन वयस, नवीन जीवन अपने नवीन उल्लास-उमंग के चंचल, मुखर पद-न्यास से उस जड़ सम्पत्ति को सजीव कर दे, उस विशाल नीरव भवन में स्वर भर दे—इसी की कमी थी।

रामकुमार शिक्षा-प्राप्त युवक था। जात-पाँत, कुल-वंश का आडम्बर और विवाह-सम्बन्धी पुश्तैनी रीति-रस्म उसे रत्ती भर पसन्द न थे। परदे की प्रथा से तो उसे एकदम घृणा थी। वह उसे आदिम-युग की आँखों पर पड़े हुए अन्धकार का चिह्न कहता था। जैसा कि प्रत्येक शिक्षित युवक सोचता है, रामकुमार भी अविद्या के अँधेरे में पले हुए इन अन्ध रीति-रिवाजों के डैने तोड़-मरोड़ कर समाज के जीर्णवृक्ष की ठूँठी टहनियों से उनकी उलूक बस्तियों को जड़ से उखाड़ फेंक देना अपना कर्तव्य समझता था,

पर समय पर वैसा कुछ भी न हो सका। उन्हीं रीति-रस्मों की प्रसूति, उन्हीं अन्ध संस्कारों में पली हुई, किन्तु उनसे कहीं अधिक सजीव, संस्कृत और शान्तमूर्ति माँ के हाथों से वे पुरानी रीति-नीतियाँ एकदम उतनी भद्दी नहीं लगीं। मा ने उनकी कुरूपता के ऊपर जैसे अपना चिर-परिचित अंचल डाल दिया। एक दिन बहुत बड़ी धूमधाम, सजधज और बन्धु-बान्धवों के उत्सव-कोलाहल के बीच अपनी ही लज्जा की लपेटनों में खोई हुई सी नवबधू ने चुपके उन्हीं पुराने रीति-रस्मों के झरोखे से रामकुमार के पिता शिवकुमार की विशाल अट्टालिका में प्रवेश कर उसे अपने नवीन सुहाग की मौन मधुरिमा से भर दिया। रामकुमार ने देखा, मा के स्नेह और यत्नों से, आज दीर्घकाल के बाद, बिलकुल ही नये ढंग से सजे हुए घर के अन्तःपुर का विशाल कमरा जैसे अपना वास्तविक केन्द्र खो बैठा है, उसकी केन्द्र-वाहिनी नाड़ियाँ आज अपने को सब से अलग किए हुए एक कोने की ओर प्रवाहित हो रही हैं। कमरे की सभी वस्तुएँ, सभी सजावट का सामान, छत, फ़र्श और दीवारें तक उस कोने से सटे हुए एक लम्बे से घूँघट के भीतर झाँकने के प्रयत्न में संलग्न, किन्तु असफल-प्राय दीख रही हैं।

बरसात के बादलों में छिपे रहने के कारण चाँद के दर्शन सहज में नहीं होते; किन्तु यह कल्पना कि वह कहीं, इन्हीं बादलों के बीच में है, और यह उत्कंठा कि न जाने कब उनके विरल

अन्तराल से उसकी झलक मिल जाय, उसे और भी मोहक बनाए रहती है। रामकुमार को भी जान पड़ा कि छुईमुई के पौधों की तरह, अस्तित्व-हीनप्राय, केवल अनुमान मात्र उसकी बहू, अपने संकोच में अत्यधिक सिमट जाने के कारण और भी व्यक्त एवं सर्वव्याप्त हो उठी है। इस अपने को छिपाने की कला ने मानो उसका सौन्दर्य कहीं अधिक प्रस्फुटित कर दिया है। समस्त घर में, बाहर-भीतर, ऊपर-नीचे, न जाने किस माया-बल से उस संकोच में सिमटी हुई, अपने ही भीतर छिप जानेवाली बहू के उपस्थिति की वेलि पुष्पित-पल्लवित होकर फैल गई है। सबको उसके आगमन की सूचना मिल गई है, और सभी ओर नई सजधज के चिह्न दिखाई देने लगे हैं।

देशकाल की आलोचना और जनरव से दूर, अन्तःपुर की चहारदीवार के अन्दर नवीन अनुराग की उत्सुक आँखों से देखने में, भारतीय नारी और समस्त सभ्य संसार के बीच छाया की तरह पड़े हुए और बाहर के प्रकाश को छिपानेवाले उस घूँघट का सौन्दर्य रामकुमार को किसी प्रकार भी अवहेला करने योग्य नहीं जान पड़ा। घूँघट के मुख में—उसमें भी नव-बधू के—उन्हें बड़ी ही मधुर कविता जान पड़ने लगी। कला को छिपाना ही—रहस्य को रहस्य बनाए रखना ही—तो कला है! संसार में जहाँ कहीं सौन्दर्य है, वह उन्हें आवरण के ही अन्दर छिपा हुआ दिखाई देने लगा,—वही तो उसके लिए उचित स्थान है। केवल

तड़के, बहुत ही तड़के, जब कि संसार की आँखों में कोमल झुटपुटे का परदा पड़ा रहता है, छिपते हुए चाँद की छाया में, कली अपने हृदय का गूढ़ रहस्य खोलती है। उषा के कपोलों में, चुपके से, लाज की प्रथम लालिमा दौड़कर छिप जाती है !—दिन के पूर्ण खुले प्रकाश में सौन्दर्य ?

(२)

रामकुमारी की मा पुरखिन का कर्तव्य जानती थी। बेटे के, एक पढ़े-लिखे लड़के की तरह, बारबार स्पष्ट कह देने पर भी मा ने अपने मन में शिक्षित बधू से ऊँचा स्थान सुन्दरी बधू को ही दिया। बहू पढ़ी-लिखी न हो, तो फिर भी पढ़ाई जा सकती है, अंगों में दुबारा लावण्य तो भरा नहीं जा सकता। मनश्चक्षुओं को कुछ भी पसन्द हो, चर्म-चक्षुओं को जो अच्छा नहीं लगता, उसका सुन्दर लगना और नई उम्र में, असम्भव न होने पर भी कठिन ही है। कल्याणी इस बारबार परखी हुई बात को कैसे भुला देती ? शिक्षा का सौन्दर्य देखने के लिए समय चाहिए, धीरज चाहिए,—शरीर की सुन्दरता तो आते ही बोल उठती है—'देखो, मैं हूँ !'

मूक सौन्दर्य और स्वरित सौन्दर्य के अधिक जाँच पड़ताल करने की आवश्यकता कल्याणी को नहीं थी। एक तो स्त्री, मा, उस पर प्रौढ़ अनुभव-प्राप्त। जो एक सर्वसम्मत, सर्वनिर्दिष्ट संसार

है, उसकी वह कैसे उपेक्षा करती ? नब्बे प्रतिशत पुरुष और निन्यानबे सैकड़ा स्त्रियाँ संसार का एक ही अर्थ समझती हैं। उनकी धारणा ही नहीं, पक्का विश्वास है कि चिरकाल से इस संसार शब्द को मनुष्य ने अपने अनुभव के तराजू में तोल, मन के खरल में घोंट, बुद्धि की कपड़छान कर, उससे जो अर्थ, जो निचोड़ निकाला है, उसका एक शब्द में सारांश है—चर्मजगत। यह त्वचा की सृष्टि है, इसमें शरीर का प्रथम स्थान है। मोटी आवश्यकताओं की पूर्ति पहले होनी चाहिए। मिट्टी के बदन को सूँघ-चाटकर ही इस मिट्टी के मनुष्य की तृप्ति होती है—यही सनातन रीति चली आई है। घर-द्वार, ज़मीन-जानवर, सन्तान-सम्पत्ति और सुन्दर स्त्री—यह सब है, तो भगवान की कृपा है। जो इससे बाहर कुछ कल्पना भी करता है, वह संसार से ऊपर उठ गया। उसे श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं, स्नेह-दृष्टि से नहीं। ठीक भी है, माया कहते हैं; इस सुन्दरता के माया-पाश से मुक्त होना क्या आसान है ? विदुषी से विदुषी स्त्री को अपने सुन्दर न होने की कमी खटकती रहती है, और सुन्दर स्त्री बिना विद्या के सहज ही निभ जाती है। लोग कहते हैं—भई मानसिक सौन्दर्य को हम ऊँचा स्थान भले ही दें, परितृप्ति सुन्दर अंग ही देते हैं।'

एक रोज बेटे के सिर में तेल लगाते हुए माता कल्याणी ने पूछा—"क्यों रे राम, मेरी चाँद-सी बहू तेरे पसन्द आई कि नहीं ?"

स्पष्ट-भाषी लड़के ने कहा—"आई क्यों नहीं, मा, अपने राम के लिए तुमने जो सीता खोज कर ला दी।"

बहू के रूप-लावण्य की बात को प्रश्नातीत समझ कर, लग्गे से लड़के के हृदय की थाह लेने के लिए मा ने सहज ढंग से कहा—"कैसा मधुर स्वभाव पाया है, जैसे चाँदनी छिटक रही हो—सभी कुछ जिसमें खिल उठता है। जैसा तू है, वैसी ही बहू भी मिल गई। पानी की तरह ख़ुद दब जाती है, दबाना किसी को नहीं चाहती।"

माता की प्रसन्नता से मन ही मन प्रसन्न हो कर बेटे ने श्लेष से कहा—"कह तो चुका हूँ मा, एकदम सीता है, हर समय ज़मीन ही में गड़ी रहती है। केवल इस परदे के रावण से उसका उद्धार करना है, जिसने उसे पाँच आदमियों की पंचवटी से हटा कर दूर अन्ध-संस्कारों की लंका में छिपा रक्खा है। इस अग्नि-परीक्षा में तुम्हीं उसे उत्तीर्ण करवा सकती हो, मा!"

बेटे ने मा को समझाने के लिए उस राम-रावण की चिर-परिचित तुलना को और भी आगे बढ़ा कर परदे और रावण में पूरा-पूरा सादृश्य दिखला दिया। कहा—"मा, यह परदा और रावण एक ही पक्षी के दो पंख हैं। दोनों मनुष्य की पाशविक आकांक्षाओं के चिह्न-स्वरूप हैं। जिस स्थूल लालसाओं के दशमुख से, विश्व-माता का आसन देने के लिए, सीता के उद्धार की आवश्यकता समझी गई थी, उन्हीं वासनाओं की दृष्टि से स्त्री को बचाने के लिए

इस परदे का भी जन्म हुआ है। जिस तरह कबूतर आँखें मूँदकर बिल्ली के मुँह से नहीं बच सकता, उसी प्रकार इस परदे की अन्ध-दीवार के भीतर प्रकाश नहीं पल सकता। समस्त सभ्य संसार सौन्दर्य को अनिलातप की उपज, प्रकाश की प्रसूति मानता है।"

कल्याणी को यह समझने में देर न लगी कि केवल उसी की सम्मति न पा सकने के कारण बहू अपने स्वामी की आज्ञा पालन करने में आनाकानी कर रही है। उसके केवल संकेत कर देने से ही, राम, इस चिरकाल से अलंघ्य नारी-लज्जा के समुद्र में, बाहर-भीतर आने-जाने के लिए, अनायास ही पुल बाँध सकेगा—इसी-लिए मानो वह उसकी सहायता का प्रार्थी हो रहा है। कल्याणी, स्नेहशील मा की तरह, बहू के मामले में अपनी इच्छा से लड़के की इच्छाओं का अधिक मूल्य समझती थी। अतएव एक रोज बहू की ठोड़ी पकड़ कर सास ने बड़े ही स्नेह से कहा—"तू अपने इस लावण्य में इतनी अधिक लाज कहाँ से लिपटा लाई बहू! इस बड़े से घर में बाहर-भीतर—सर्वत्र तुझे देख सकूँ, यही तो मैं चाहती हूँ री।" सास ने सखी बन कर चुपके से यह भी संकेत कर दिया कि उसका स्वामी अपनी स्त्री की इस अतुल सौन्दर्य-राशि को इस अकेले से घर में समा सकने के लिए बहुत ही बड़ी समझ, अपने इस अपार्थिव लाभ की प्रसन्नता और अधिकार के गर्व को जैसे सर्वत्र फैला देना चाहता है। चकित-संसार की आँखों से प्रशंसा का और कृतज्ञ मुग्ध अन्तःकरण से स्नेह-आदर का पुर-

स्कार न प्राप्त करना वह नवीन दम्पति के प्रति इन अन्ध-रूढ़ियों का अन्याय और अत्याचार समझता है।

सरला संकोच के मारे मर-सी गई, और मन-ही-मन अपनी इस देवी-स्वरूपा सास की भूरि-भूरि स्तुति करने लगी।

(३)

रामकुमार की शिक्षा को सौन्दर्य का सम्मोहन अधिक समय तक परास्त नहीं कर सका था। प्रथम मिलन की स्वप्नमयी सन्ध्या में, देश-काल की आवश्यकता से परे, प्रेम के प्रथमोच्छ्वास की सतृष्ण-दृष्टि से देखने में घूँघट के आवरण में जो सुन्दरता दिखलाई दी थी, इन्हीं चार-पाँच महीनों में, धीरे-धीरे, नवीनता के माधुर्य के मिटते ही वह भी लुप्त होने लगी थी। रामकुमार को सरला का मुख घुली-हुई मिश्री की डली-सा, चिकना-चुपड़ा और मधुर दिखाई देता—उसमें रूप, रंग, रेखाएँ—सब रहतीं, केवल भाव, केवल व्यंजना, केवल स्वर नहीं मिलता ; या रामकुमार उसे देख न पाता हो। बादलों के परदे से प्रभात की तरह उस लावण्य ग्रह से एक प्रकार का मानसिक तेज फूट नहीं पड़ता था। सरला तो पत्थर की प्रतिमा न थी, तब रामकुमार कैसे सन्तुष्ट रहता ?

हमारे समाज ने अपनी अबला स्त्री के चारों ओर जो सूक्ष्म-स्पष्ट रेखाएँ खींच कर उसके लिए जो स्थान नियत कर दिया है, जो दृढ़ मर्यादा चिरकाल से बाँध दी है, उसे हम जिस प्रकार दूर

से देख सकते हैं, हमारी नारी, उस तरह, अपने को उससे अलग-कर, नहीं देख सकती—वह शिक्षित हो अथवा अशिक्षित। उस संकीर्ण कारा में रहते-रहते उसे अपनी संकीर्णता का अनुभव नहीं होता। वे यम-नियम चिर-अभ्यास के कारण उसका स्वभाव बन गए हैं। उसकी आत्मा समाज के लिए अपने इस आत्म-समर्पण में खो गई है। केवल हमारे नियम-बन्धन उसके भीतर से हाथ-पाँव बढ़ा कर, उसके विचार-व्यवहार, मान-मर्यादा शील तथा स्वभाव के रूप में प्रकट होकर, हम से मिलते-जुलते और परस्पर, एक-दूसरे से, सम्बन्ध बनाए रखते हैं; इसी लिए हमारी नारी सब से अधिक वस्तु-जगत में रहती है। वह केवल सब कुछ मान-कर चलती है। सभी नियम, सभी आचार, सभी संस्कार, सभी अन्ध-विश्वास उसके लिए स्पष्ट हैं, सत्य हैं। उन्हीं का संसार उसका संसार है।

रामकुमार सरला को केवल अपने आदर्शों की प्रतिमा बना देना चाहता था। उसके भीतर समाज के आदर्शों की जो चिर-काल से प्रतिष्ठित प्रतिमूर्ति यन्त्र की तरह हँसती, बोलती और काम-काज चलाती थी, रामकुमार की आँखों में उसका असाम-यिक छाया-रूप अत्यन्त खटकता था। सरला यह कभी नहीं भूलती थी कि वह ससुराल में है। यह बात घर में ताई ने उसके हृदय में पीड़ा होने तक पहुँचा दी थी। वह अधिक समय सास के पास बैठने, घर का काम-कांज सीखने और सास की छोटी-मोटी

सेवाओं में बिता देती थी, यद्यपि कल्याणी को बहू से सेवा लेना पसन्द न था। रामकुमार को इन सब कारणों से, पत्नी को इच्छानुकूल शिक्षा देने और बाहर के आकाश में शोभित होने योग्य मुख-चन्द्र को घूँघट के घन-रोध से मुक्त करने का अवकाश नहीं मिलता था। सरला धीरे-धीरे चलती, धीरे उठती, धीरे बैठती और बहुत ही धीरे से बोलती थी। रामकुमार को इस मन्द-गति, मन्थर-विलास अथवा अवकाश-चेष्टा में रत्ती-भर सौन्दर्य या मधुरिमा नहीं मिलती थी। वह उसे मन-ही-मन सरला की मानसिक निर्जीवता, जड़ता, दीर्घ-सूत्रता, और न जाने क्या क्या समझता था।

जब रामकुमार का अभिन्न-हृदय मित्र सतीश सभ्य संसार और उन्नत देशों की उर्वरा भूमि में प्रस्फुटित, विकसित और उनकी दीर्घ आयास-अनुभूति से परिपुष्ट, आधुनिक नारी का परिष्कृत आदर्श-रूप अपने मित्र के सामने रखता तो उसके रूप-रंग की तुलना में कुमार को सरला का सौन्दर्य बिलकुल फीका, नीरस और निस्सार लगने लगता था। सतीश साधारण कम्यूनिस्टिक-टेम्परामेन्ट (स्वभाव) के अनुरूप अधिक से अधिक पक्षपात और घृणा-व्यंजक शब्दों में मध्यश्रेणी की सभ्यता का जैसा खंडन करता, इन भद्दी बर्बर प्रथाओं की जैसी ऐतिहासिक व्याख्या देता, संसार के भविष्य का जो स्वर्ण-चित्र खींचता, और श्रमजीवी रूस की स्त्रियों के स्वतंत्र-जीवन का जैसा अतिरंजित दृश्य आँखों

के सामने खड़ा कर देता, उसे कुमार बड़े ही ध्यानपूर्वक और कभी-कभी मुग्ध-भाव से सुनता था।

वाह, वह उन्मुक्त अनिल और उज्ज्वल आतप में पली हुई स्वतन्त्र नारी-मूर्ति! निर्मल आकाश जिसके नयनों को नित्य नवीन नीलिमा प्रदान करता है; सद्य-स्फुट सुमनों का सौरभ जिसकी साँसों में बसता है; पक्षियों का कलरव कण्ठ में कूक भरता है; उषा जिसके कपोलों में गुलाब बन जाती है; बार-बार स्वच्छ जल में तैरने से जिसके अंगों की तनिमा और सुकुमारिता में सजीवता आ गई है; छहों ऋतुएँ जिसके सौन्दर्य को प्रस्फुटित करने के लिए अपना सर्वस्व निछावर करती रहती हैं—वह सबल, स्वस्थ, सुन्दर स्त्री के रूप का आदर्श! जिसका मानसिक सौन्दर्य अपनी ही अधिकता में फूटकर उसके स्त्रीत्व को अपनी उज्ज्वलता में छिपा लेता है; उस स्वतन्त्रता के आलोक में देह-ज्ञान जैसे छाया की तरह बिलकुल पीछे पड़ जाता है,—वह प्रशस्त आदर्श इन अन्ध-रूढ़ियों की संकीर्णता से परे है।

(४)

एक दिन, तीसरे पहर के समय, जब, दोनों मित्र बैठे हुए आपस में बातें कर रहे थे, सरला ने अपने नित्य के अभ्यास के विपरीत, मानो अपने जन्म-जन्मान्तर के दुबिधा-संकोच को एक ही क्षण में भगा, जिस सहज संयतभाव से स्वामी के कमरे में

प्रवेश कर, छोटी सी मेज़ पर सुन्दर ढंग से चाय का सामान सजा दिया, उसे देख कर रामकुमार मानो विस्मय और आनन्द के मारे अवाक् हो गया। मानो रोज़ ही का अभ्यास हो, पास से अपने लिए कुर्सी खिसका, उस पर बैठ, बात की बात में चाय तैयार कर और बड़ी ही स्वभाविक सरल मुसकुराहट से मुख को मंडित कर, उसने दोनों मित्रों के सामने दो प्याले तथा कुछ फल और मेवे रख दिए।

"तुम्हें भी साथ देना होगा, भाभी, जब देवता ने दर्शन दे ही दिए, तो इतना-सा बरदान भी दे जाय।"—भेंट को परिचय में बदलने के लिए सतीश ने हँसते हुए अपना प्याला सरला की ओर बढ़ा दिया।

सरला ने बड़े ही निःसंकोच भाव से चाय का प्याला सतीश को लौटा दिया, और तश्तरी से कुछ मेवे उठा कर मुँह में डाल लिए।

"यह तो साथ देने का अभिनय भर हुआ।"—सतीश ने अनुरोध किया।

"देवता मृत्युलोक की सुरा पीने के आदी नहीं होते, फल-फूल ही ग्रहण कर सन्तुष्ट रहते हैं।"—बेहला की तरह बज कर हँसी से छलकती हुई भाभी, अपने को न रोक सकने के कारण अपनी ही नवीन वयस के कूलों से उमड़ते हुए सौन्दर्य की लहर की तरह, एक क्षण में, कमरे से बाहर हो गई।

" बरदान पाने के लिए अभी बहुत बड़ी तपस्या की आवश्यकता है ।"—उमड़ते हुए हृदय को मानो स्रोत देकर, हास्य से कमरे को भरते हुए कुमार ने प्रसन्नता की अतिशयता के कारण प्याले में और भी चाय उड़ेल ली ।

सरला का वह सहज संयत साहस रामकुमार के लिए वास्तव में बहुत बड़ी प्रसन्नता का कारण हो गया था । जिस बात को वह अपने ही अस्तित्त्व से सहमी रहनेवाली अपनी पत्नी के लिए दुरूह ही नहीं, एक प्रकार से असम्भव भी समझने लगा था, उसी को सरला ने चिर-अभ्यस्त की तरह जिस आसानी से कर दिखला दिया, वह कोई साधारण बात न थी । रामकुमार विस्मित ही नहीं, चकित हो गया था कि उस अपनी ही दृष्टि की लाज से कुम्हला से जानेवाले प्राणों में इतना साहस, स्वतन्त्रता कहाँ से, कैसे आ गई !

पर सरला के लिए वह सब उतना कठिन न था, नई बात तो विलकुल भी न थी । छुटपन में हो मा की मृत्यु ने उसे पिता की गोद में दे दिया था । सरला के पिता उन लोगों में से थे, जिनमें सभी को अपनी ओर खींच लेने की क्षमता होती है । उन्हें देख कर मन में वही आनन्द-भाव उठता है, जो पूस के महीने में साँझ की स्निग्ध धूप से मंडित पहाड़ की चोटी पर दृष्टि पड़ने से । नगर के प्रायः सभी प्रतिष्ठित लोग उनके सौजन्य का उपभोग करने, शाम के वक़्त, उनकी बैठक में एकत्रित हो

जाया करते थे। उनके आदर-सत्कार का भार सरला के ही ऊपर रहता था। इस प्रकार पुरुष-समाज में बरती जानेवाली शिष्टता सभ्यता से वह अच्छी तरह परिचित थी। और, लोगों के सामने निकलने में उसे झिझक या संकोच नाम को भी न था; लेकिन सरला को जहाँ एक ओर इतनी स्वतन्त्रता थी दूसरी ओर उसे वैसे ही कड़े शासन में भी रहना पड़ता था। गृहस्थी की शिक्षा उसे अपनी ताई से मिली थी। ससुराल शब्द का जिस सँकरी-से-सँकरी जगह से अभिप्राय है, और स्त्री-जगत् में ही क्या जन-साधारण में भी जो फूँक-फूँककर पाँव रखने का अर्थ प्रचलित है, उसे अनुभव की पीड़ा से असमय में ही प्रौढ़ ताई ने छोटी-सी बालिका सरला के मन में बैठाने में किसी प्रकार की कोर-कसर नहीं रक्खी थी। सास के शासन में जिस तरह बिलकुल सिकुड़कर कांटे की नोक पर रहना होता है, उसका अभ्यास भी भावी बधू को घर ही में करा दिया गया था। सास की भौहों के उठने-गिरने के साथ जिस तरह उठना-बैठना पड़ता, इशारे पर जिस तरह रहना होता और उसकी उच्चारण-हीन चुप्पी के जिस तरह भिन्न-भिन्न अर्थ लगाने पड़ते हैं, उन सब को लड़की के कानों में इतनी बार डाल दिया गया था कि रेल की यात्रा के बाद उसके घर-घर शब्द की तरह वे बातें सरला के मस्तिक में अपने आप चक्कर खाती रहती थीं।

ससुराल में आकर सरला ने देख लिया था कि उसके यहाँ

सास के शासन का पानी बिलकुल ही गहरा नहीं है। स्वामी के स्वभाव से भी धीरे-धीरे वह अच्छी तरह परिचित हो गई थी। आरम्भ में उसे जिस अतिरंजित शील-संकोच का अभिनय करना पड़ा वह नव-बधू का था, उसका अपना नहीं; लेकिन रामकुमार को तो बहू बनना नहीं था, इसलिए वह इस गुप्त सीख की बात नहीं जानता था। अस्तु, सास की अनुमति पाने के बाद सरला ने सहसा अपने जिस व्यवहार से स्वामी को प्रसन्न करने के साथ-साथ चकित भी कर दिया था, उसका यही रहस्य था।

(५)

कुछ लोग ऐसे होते हैं, जो पहले से ही चिरपरिचित से लगते हैं; उनके हृदय में सभी कुछ समा सकता है! अन्तःपुर की संकीर्णता में अपनी ही सुविधा के सामान होता है। बैठक का कमरा सभी के लिए खुला रहता है, उसके भीतर आने-जाने में किसी को असुविधा नहीं मालूम पड़ती। इसी प्रकार की एक उदार सार्वजनिकता, एक सर्वदेशीय संस्कृति नवयुवक के स्वभाव में प्रायः देखने को मिलती है। इसका कारण शायद यह हो कि उनके पाँव अभी सांसारिकता की स्थूल मिट्टी में नहीं गड़े होते। जो हो सतीश में यह बात एक स्पष्ट और प्रत्यक्ष मात्रा तक थी। उसका उज्ज्वल हास्यमंडित मुख, उसके

हृदय का दर्पण था। सभी देख लेते थे, वह साफ़-सुथरा स्फटिक का बना हुआ है। फलतः नई भाभी सरला भी थोड़े ही समय में सतीश से आत्मीय की तरह परिचित हो गई थी। घंटों तक बैठ कर दोनों आपस में बातें करते। सतीश को रसिकता बीच-बीच में अपना रंग देती रहती। उसकी परिहास-प्रियता को अशिष्टता छू तक नहीं गई थी। राजकुमार, कार्य न रहने पर भी, कभी-कभी उन दोनों को कमरे में छोड़ स्वयं बाहर चला जाता था। इस तरह वह सतीश के प्रति अपने विश्वास का प्रमाण देना चाहता हो, यह नहीं,—वह इस प्रकार की स्वतन्त्रता को अस्वाभाविक अथवा अनुचित न मान कर मनुष्य के हृदय की संकीर्णता और क्षुद्रता को मिटा देने में अपना गौरव समझता था। मानव-स्वभाव की दुरूहता के कारण संसार ने स्त्री-पुरुष के बीच जो छोटी-बड़ी रेखाएँ खींच दी हैं, सीमाएँ बाँध दी हैं, उन पर विश्वास करना वह अपनी दुर्बलता समझता था। रामकुमार यह नहीं सोचता था कि यदि संकीर्णता सचमुच ही मनुष्य के भीतर हो, तो वह इस तरह नहीं मिटाई जा सकती। हाँ, भुलाई-छिपाई अवश्य जा सकती है।

लेकिन सब-कुछ होने पर भी, सतीश जिस प्रकार सरला से एकदम हिल-मिल गया था, सरला उस तरह अपने को नहीं दे सकी थी। उसने एक सूक्ष्म-रेखा अपने बीच बनी रहने दी, जिसे सतीश नहीं देख सकता था। सतीश का स्फटिक बिलकुल

स्वच्छ था, इसमें उसे रत्ती-भर सन्देह न था—और यही कारण था कि वह अपने स्वामी से उनके मित्र की प्रशंसा करने में कभी न थकती थी; यहाँ तक कि कभी-कभी रामकुमार, अपनी असावधानी के क्षणों में, उस प्रशंसा के उद्गम के बारे में सन्दिग्ध हो उठता था—लेकिन सतीश के स्फटिक में एक चकाचौंध भी थी, जिसे सरला नहीं समझती थी, और समझने का प्रयत्न करने में उसका हृदय—न जाने क्यों—डर जाता था। सतीश की स्वतन्त्रता में सीमा न थी, या वह इतने आगे बढ़कर थी कि सरला के लिए उसे देख सकना असम्भव था। वह निर्मल थी, पर उसका कूल न मिलने के कारण सरला को उसमें केवल दूर तक चमकता हुआ प्रसार-ही-प्रसार दिखाई देता था, जिसमें सरला के उचित-अनुचित की दोनों सीमाएँ बीच ही में डूब जाती थीं। इसीलिए उस चौंधिया देनेवाले प्रवाह में वह आँखें मूँदकर नहीं कूद सकी थी।

पर रामकुमार जो सतीश को इतनी अधिक स्वतन्त्रता दे रहा था, उसका एक और भी कारण था। जब कुमार के सुधार-प्रिय हृदय में पहले-पहल अपनी पत्नी को अपनी मित्र-मंडली के सामने उपस्थित करने और ख़ासकर सतीश से मिलाने की बालोचित उत्सुकता पैदा हुई थी, तब उसने बाहर की बैठक में, मित्रों के आस-पास, सरला के लिए कोई स्थान निश्चित-रूप से स्थिर नहीं कर लिया था। उसने कुछ भी नहीं सोचा था

कि इस स्वाधीनता की सीमा कहाँ पर रखनी चाहिए। और इसकी आवश्यकता भी नहीं, लोकाचार को, लोक-रीति को सभी जानते, सभी समझते हैं। सरला सनातन मर्यादा से बँधी हुई अन्तःपुर की देहली से बहुत आगे बढ़ आई हो, यह बात न थी; स्वयं व्यवहार-ज्ञान-शून्य सतीश उनके बहुत समीप खिसक आया था। यह बात असुन्दर न लगने पर भी भीतर-ही भीतर कुमार को स्पृहणीय नहीं जान पड़ती थी। पर इस सन्देह-जनक भाव-परिवर्तन का कारण कहीं उसकी मानसिक संकीर्णता न हो, इसलिए कुमार उस पर कोई मत भी नहीं निर्धारित करना चाहता था; बल्कि उस द्विधा-भाव को अपने भीतर दबा देने के लिए वह सतीश की स्वतन्त्रता को सीमित करने के बदले और भी ढील देता जा रहा था।

सतीश क्यों इस तरह की स्वतन्त्रता ले रहा था?—हमें सतीश के मनोविकास को समझना होगा। कालेज के विद्यार्थी सतीश ने संसार का ज्ञान केवल इतिहास के पृष्ठों से संचित किया था, पर उसका ठीक-ठीक ऐतिहासिक दृष्टिकोण भी न था। हृदय के संस्कार प्रबल होने के कारण उसने इतिहास-द्वारा सत्य के आदर्श-स्वरूप का दर्शन करना चाहा था, फलतः उसका भावुक हृदय बड़े वेग से साम्यवाद की ओर झुक पड़ा। साम्यवाद ने केवल ऐतिहासिक तत्त्वों का मनन कर संसार के कल्याण का मार्ग निश्चत किया है। उसने मनोविज्ञान को भी इतिहास के तीस

डिग्री के कोण से देखा है, इसलिए उसका आदर्श साम्राज्य अथवा स्वर्ण-स्थिति की कल्पना भी केवल इतिहास के मनुष्य के लिए है। पूर्ण मनुष्य को देखने का उसने प्रयत्न ही नहीं किया। कहानी के संक्षेप-शब्दों में साम्यवाद केवल ऐतिहासिक आदर्श-वाद है।

सतीश सुदूर भविष्य के अनिश्चित अन्धकार में टिमटिमाते हुए उस आदर्श-आलोक मधुरिमा की ओर आँखें गड़ाए, अपने चारों ओर व्याप्त, कठिन सामाजिक बन्धनों में बँधे हुए इस हँसते-बोलते, काम-काज करते हुए सत्य के प्रत्यक्ष रूप को मानो देख ही नहीं पाता था। इसीलिए जब वह अपनी बालोचित सरलता से अनायास सरला के सामने ही कह बैठता था कि संसार में साम्यवाद और स्त्री के सिवा रक्खा क्या है, तो वह अनर्गल होने पर भी उसके मुँह से बुरा नहीं लगता था। वह बार बार दुहराता – मानव जाति के कल्याण के लिए कोई सत्य, सरल, संगत और साध्य पथ है तो वह साम्यवाद; मनष्यों के सुख, स्नेह, सौहार्द्य और सहवास के लिए कोई सामग्री है तो स्त्री।

प्रत्येक युग के सामने सत्य का जो आदर्श स्वरूप प्रस्फुटित और विकसित होता है, वह वर्तमान की दृष्टि से केवल कल्पना-मात्र है। वह केवल भविष्य में ही कार्यरूप में पुष्पित, पल्लवित हो सकता है; क्योंकि परिवर्तन का अर्थ विकास है, और विकास कामरूप, स्वतः प्रवर्तित होता है। हमारे दैनिक जीवन के आचार-विचार में

छना हुआ जो सत्य बरता जाता है, उसकी उपेक्षा एक व्यक्ति कर सकता हो, समाज समष्टि-रूप से नहीं कर सकता ; क्योंकि समाज के रूप में ही सत्य का विकास होता है, वह उसे नष्ट नहीं कर सकता। यही सामयिक सत्य समाज के कलेवर के भीतर वृहत् चुम्बक की तरह छिपा हुआ, उसकी कार्यकारिणी नाड़ियों को अपनी ओर प्रवाहित कर उन्हें एक सार्वलौकिक रूप देता रहता है।

सरला के जीवन में चाहे कोई सिद्धान्त ज्ञान-रूप से कार्य न करता हो, वह समाज के अन्तर्व्यापी इस चुम्बक के दर्शन भी भले ही न पाती हो, पर बाहर बरते जानेवाले सत्य के इस प्रत्यक्ष रूप का उसे अन्तःप्रेरणा से सहज ही में आभास मिल जाता था। सत्य को सार-रूप में समझना उसके लिए जितना कठिन था, शब्द-रूप में देखना-सुनना उतना ही आसान भी था। यह लोकाचार में बँटा हुआ सर्वसम्मत सत्य, उसके सामने अज्ञात-रूप से खड़ा होकर उसके सतीश के साथ अच्छी तरह घुल-मिल जाने में बाधा उपस्थित करता था। सरला सतीश की स्वच्छता से एकदम तिलमिलाकर, उसे अपनी समझ से बाहर समझ, उससे सदैव अपनी रक्षा करती रहती थी। उसने दो-चार ही रोज़ के भीतर बाहर के कमरे में अपने लिए अपना स्थान अपने आप नियत कर लिया था।

(६)

सतीश आज सुबह गुलाब का एक बड़ा-सा लाल फूल लेकर रामकुमार के यहाँ आ गया था। यह गुलाब उसे रास्ते में मिल गया हो, सो नहीं; उसने ख़ास तौर पर कल शाम से ही माली से कहकर इसे मँगवाया था। आज सरला का जन्म-दिन था। गहरे लाल रेशम की साड़ी पहने हुए, आकांक्षा से प्रदीप्त, उन्मुख ज्वाला की तरह, सरला ने ज्यों ही कमरे में प्रवेश किया, सतीश क्षण-भर के लिए उस नवीन सौन्दर्य के आलोक से जैसे अभिभूत हो गया। वह उस समय बराबर बैठा तो कुर्सी पर ही रहा, लेकिन उसे ऐसा मालूम पड़ा कि वह एकाएक, भीतर ही भीतर, अपने स्थान से उठ कर, कुछ दूर आगे बढ़, फिर जैसे लौट कर बैठा हो।

आधुनिक बंगाल-स्कूल के चित्रों ने स्त्रियों के पहनावे के सम्बन्ध मे जिस हल्के रंग का आदर्श सतीश के मन में स्थापित कर दिया था, उसके ठीक विपरीत सिर से पाँव तक गहरे, चटकीले रंग के परिधान से भी सौन्दर्य की छटा इस तरह दसगुनी हो कर छिटक सकती है, यह सतीश ने पहले कभी नहीं सोचा था। इस लिए जन्म-दिन के उपहार-स्वरूप उस लाल गुलाब को भाभी के हाथ में न देकर, सतीश ने सरला के सिर पर से साड़ी को सरका कर, काले काले बालों के सघन अँधियाले में उषालोक की तरह उस लाल फूल को उसकी चोटी में खोंस

दिया। सरला का मुख सङ्कोच के मारे गुलाब से भी अधिक लाल हो, क्षण-भर के लिए सफेद हो गया। उजड्ड सतीश रंग के इस चढ़ाव-उतार पर ध्यान न दे सकने के कारण, परिहास के ढंग से भाभी को, नीचे तक झुक कर, सलाम कर अपनी कुर्सी पर बैठ गया।

रामकुमार को पहले तो ऐसा मालूम हुआ, जैसे धुएँ के भीतर से आग की लपट ने निकल कर उसके हृदय को झुलसा दिया है, पर वह शीघ्र ही सम्हल गया, और जब सरला ने गुलाब के फूल को चोटी से निकाल कर मेज़ पर रख दिया और बाएँ हाथ से साड़ी को सिर पर डालते हुए करुण, पर संयत स्वर में कहा—"सतीश बाबू, आपके हाथ से कोई काम बुरा न लगने पर भी आपको इस तरह सहसा, बिना सोचे-समझे कोई काम नहीं कर डालना चाहिए"—उस समय कुमार ने जैसे मन ही मन पत्नी के इस निर्देश का पूर्णरूप से समर्थन किया, यहाँ तक कि उसका सिर भी अपने आप हिल कर उसकी सम्मति जताने में नहीं रुक सका।

सतीश के मुख की हँसी, कटी हुई पतंग की तरह, हृदय की डोर से अलग हो, होठों पर चक्कर खाती हुई, जैसे वहीं-की-वहीं निःस्पन्द हो गई। उसे मालूम पड़ा कि उसके सिद्धान्तों और सत्य-ज्ञान के ःतिकूल कुछ न होने पर भी उसके चारों ओर व्याप्त अँधेरे में आज तक छिपा हुआ कोई छाया-सत्य सहसा

अपना अस्पष्ट हाथ उसकी ओर बढ़ा कर जैसे उसका गला दबा रहा है। उसे जान पड़ा, सत्य-मिथ्या होने से ही कोई काम अच्छा-बुरा नहीं लगता, उसके और भी कारण हो सकते हैं। वह जैसे किंकर्तव्य-विमूढ़ हो, अपने स्थान पर, पत्थर की मूर्ति तरह, ज्यों का त्यों बैठा रहा।

माली को ख़ास तौर से हुक्म देकर उस लाल गुलाब के फूल को मँगवाने में सतीश का अभिप्राय केवल उपहार देने की प्रथा को निभाना था, अथवा उसमें और भी अन्तःकरण में छिपी हुई किसी अव्यक्त आकांक्षा की प्रेरणा मिली हुई थी—इसकी आलो-चना करना हास्यप्रद है। संभव है कि सतीश के स्वभाव का नव-युवक सभी काम सोच-विचार कर नहीं कर सकता, तो क्या सरला में इतनी उदारता न थी? थी, पर नारी की मर्यादा! एक बार तो उसके जी में आया कि उस फूल को नोंच-नोंचकर फ़र्श पर बखेर दे, यह नारी-स्वभाव की प्रेरणा थी; लेकिन सरला के शील ने नारी के उद्वेग को दबा कर उसे फूल नोंचने से ही नहीं, मेज़ पर पटकने अथवा फेंकने से भी रोक दिया। उसने अपनी मधुर संस्कृति से फूल को केवल धीरे-से मेज़ पर रख दिया था। सरला को केवल अपने पत्नी होने की मर्यादा की रक्षा करनी थी।

स्त्री को और भी कई काम होते हैं, पर उसके जीवन का मुख्य काम—जहाँ पर उसे अपने स्त्रीत्व का सब से अधिक अनुभव होता है—अपने अन्तःकरण में लबालब भरे हुए स्नेह को ठीक-

ठीक, यथारीति से बाँटना है, इसमें वह सब से निपुण होती है। वह अपने प्रति किए गए समस्त उपकारों को स्नेह ही से पुरस्कृत करती है। पर उसके स्नेह में मात्राओं का भेद होता है। वह साथ ही कई आदमियों को अपना स्नेह दे सकती है; पर किसी को कम, किसी को अधिक। उसका मानदंड, उसका नापने का गिलास कैसा होता है, इसे कोई नहीं कह सकता।

सरला सतीश से कम स्नेह नहीं रखती थी। जब उसने सतीश के चिर-हास्य-मंडित मुँह की हँसी को, वृन्तच्युत पुष्प की तरह, उसके सम्पूर्ण मुख-मंडल से अलग होकर केवल होठों के बीच मुरझाते हुए देखा, तो उसे अपने स्नेहार्द्र हृदय में असीम व्यथा का अनुभव होने लगा। यहाँ तक कि वह अपने उमड़ते हुए आँसुओं के वेग को न रोक सकने के कारण चुपचाप कमरे से बाहर चली गई।

किन्तु सबसे अधिक क्षुब्ध और आहत हुआ रामकुमार! अपनी जिस दुर्बलता के ऊपर राख डाल कर वह भीतर-ही-भीतर दबा देना चाहता था, वह आज उस लाल गुलाब के रूप में अंगारे की तरह सुलग कर उसे सन्ताप पहुँचाने लगी। रामकुमार ने देखा कि जन्म-जन्मान्तर से संचित अपने इस पति होने के संस्कार को जैसे वह किसी तरह नहीं मिटा सकता। यही नहीं, उसका यह संस्कार अपने इस अधिकार का उससे अधिक से अधिक उपभोग करवाना चाहता है। उसे प्रतीत होने लगा कि

सरला को बाहर के संसार में ले जाने की आकांक्षा में भी उसके इसी संस्कार की प्रेरणा छिपी थी कि चार आदमियों के सामने उसका यह अधिकार-गर्व सार्थक और अधिकार-तृष्णा सन्तुष्ट हो सके। रामकुमार ने देखा कि सब से बड़ा अवगुंठन उसकी आत्मा के ऊपर पड़ा हुआ है, पत्नी का वह अवगुंठन केवल उसकी छाया-मात्र है। अपने हृदय के अवगुंठन को हटाए बिना वह पत्नी के सुख-स्वाधीनता का उपभोग नहीं कर सकता। उसने उठ कर सतीश को गले लगा लिया, और बड़े ही व्यथित भाव से कहा—"मुझे क्षमा करो सतीश!"

सतीश इस क्षमा-याचना का ठीक-ठीक अर्थ नहीं समझ सका। उसने मुसकुराते हुए बाधा दी—"स्त्रियों की तरह बर्ताव मत करो कुमार!"

सरला जब चाय का सामान लेकर अन्दर आई, तो दोनों मित्रों को प्रसन्न देख कर उसके हृदय का भार हलका हो गया। उसे प्रतीत हुआ कि उसके भीतर छिपे हुए कुमार को ही मानो वह चोटी छूने का व्यापार बुरा लगा था, उसे नहीं; और सतीश का फूल सन्देह के काँटे से सर्वथा ही शून्य है, यह बात अपने-आप ही उसकी अनुपस्थिति में मानो सिद्ध हो गई है।

सरला ने जल्दी से उस लाल फूल के ऊपर चा-पोची डाल कर चाय तय्यार कर दी। तीनों मित्र नित्य की तरह चाय पीने लगे। उस बिना नशे के प्याले में परिहास का रंग खासा रहा।